प्रश्न यह होता है कि इस समय ऐसी पुस्तिका प्रकट करने की क्या आवश्यकता है? इसके समाधान में यह कहना होगा कि तेरह-पन्थी लोगों ने जहाँ कि इनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, उन प्रान्तों में भी जाकर स्थानकवासी जैन समाज के साधु श्रावकों की निन्दा करके दम्भ द्वारा अपने मन्तव्यों का प्रचार करना प्रारम्भ किया है और साधारण समझ वाली स्थानकवासी जैन जनता को चक्कर में डालने की चेष्टा कर रहे हैं।

यह देखकर राजकोट की श्री जैन ज्ञानोदय सोसायटी ने जैन समाज की रक्षा के हेतु यह निबन्ध पं० श्री शंकरप्रसादजी दीक्षित से तैयार करवाकर मण्डल को प्रकाशित करने के लिए अनुरोध किया, उनके आग्रह को मान देकर मण्डल ने यह पुस्तक प्रकाशित की है।

इस समय कागज आदि छपाई के साधनों की अत्यन्त मँहगाई होने से लागत बहुत बैठती है। इसलिए मंडल आफिस ने श्रीजवाहिर स्मारक साहित्य फन्ड में से कुछ रकम इसमें लेकर पुस्तक का पौणा मूल्य ॥=) रखा जाता है। यह प्रकट करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता होती है, कि इस पुस्तक का प्रथम संस्करण श्रीमान् सेठ ताराचन्दजी सागरचन्दजी साहब गेलड़ा ने अर्द्ध मूल्य ।) चार आने में वितरण कराकर हमारा उत्साह बढ़ाया था।

यह संस्करण खर्च अधिक बैठने से किंमत बढ़ानी पड़ी है अतः क्षम्य है।

रतलाम, आश्विन शुक्ला पूर्णिमा सं० २००३

भवदीय

बालचन्द, श्रीश्रीमाल

उपप्रमुख

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल

रतलाम.

सम्पादक और प्रकाशक
का
निवेदन

तेरह-पन्थी सम्प्रदाय के सिद्धान्त, तेरह-पन्थी सम्प्रदाय की मान्यता, जैन सिद्धान्तों से और जैन मान्यता से कैसा वैपरीत्य रखती है, यह हमने प्रस्तुत पुस्तक में संक्षेप में बताया है। तेरह-पन्थ सम्प्रदाय की मान्यताएँ जैन मान्यताओं के ही विरुद्ध नहीं हैं, किन्तु संसार के समस्त धर्मों की मान्यताओं के भी विरुद्ध हैं और आत्मा के भी विरुद्ध हैं। लगभग सभी धर्मों का यह कथन है कि—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात्—जो अपने आत्मा के प्रतिकूल हो, जो अपने आत्मा को बुरा लगे, वैसा व्यवहार दूसरे के साथ कभी न करो।

इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि तुम दूसरे के साथ भी वैसा ही व्यवहार करो, जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो। इसके अनुसार यदि हम आग में जलते हों, पानी में डूबते हों,

या किसी के द्वारा मारे जाते हों, पीड़ित किये जाते हों तो उस समय हम यही चाहते हैं कि कोई हमें बचाले, हमारे प्राणों की रक्षा करे, हमको कष्ट से मुक्त करे। यदि हम भूखे हों, तो यही चाहते हैं कि कोई हमको भोजन दे। यदि हम प्यासे हों, तो यही चाहते हैं कि कोई हमें पानी पिलादे। यदि हम बीमार हों तो यही चाहते हैं कि कोई हमें रोग से मुक्तकर दे। इसलिए हमारा भी यह कर्तव्य हो जाता है; कि हम भी उन मरते हुए, कष्ट पाते हुए, भूखे, प्यासे या बीमार लोगों के साथ वैसा ही व्यवहार करें। इस कर्तव्य का पालन करना, आत्मा के स्वाभाविक धर्म का पालन करना है, परन्तु तेरह-पन्थ सम्प्रदाय की मान्यताएँ आत्मा के इस स्वाभाविक धर्म को भी नष्ट करती हैं और इसमें भी पाप बताती हैं। प्रकारान्तर से मानव में से मानवता को ही नष्ट करती हैं।

अपनी मान्यताओं को तेरह-पन्थी लोग भी जैन शास्त्रानुसार बताते हैं, परन्तु यह हम अगले प्रकरणों में बतावेंगे कि तेरह-पन्थ की मान्यताएँ जैन शास्त्रानुसार नहीं हैं किन्तु जैन शास्त्रों के नाम पर कलंक लगाने वाली हैं। यह बात श्रावकों को ज्ञात न हो जावे, श्रावक लोग शास्त्र की उन बातों को न जान सकें, इस उद्देश्य से तेरह-पन्थी साधुओं ने श्रावकों का सूत्र पढ़ना ही जिनाज्ञा के बाहर बताया है और जिनाज्ञा से बाहर के समस्त कार्य, वे पाप ही मानते हैं। इस प्रकार तेरह-पन्थी साधु, श्रावकों

ा सूत्र पढ़ना पाप कहते हैं। यह बताने के लिए तेरह-पन्थ के सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'भ्रम विध्वंसन' में 'सूत्र पठनाधिकार' नाम का एक पूरा अध्याय ही दिया गया है। तेरह-पन्थियों ने केवल अपनी मान्यताओं की असत्यता से श्रावकों को अनभिज्ञ रखने के उद्देश्य से ही ऐसा किया है। श्रावकों के लिए धर्म-शास्त्र का पठन पाप है, तेरह-पन्थियों का यह सिद्धान्त भी समस्त धर्मों, सम्प्रदायों या मजहबों के विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में तेरह-पन्थियों के द्वारा दिये गये प्रमाण, युक्ति आदि बिल्कुल व्यर्थ से हैं, इसीलिए हमने उनकी आलोचना या उनका खण्डन करना आवश्यक नहीं समझा है। तेरह-पन्थी साधुओं का श्रावकों के लिए सूत्र पठन का निषेध, इतना तो स्पष्ट करता ही है कि तेरह-पन्थी साधु अपने सिद्धान्तों और अपनी मान्यताओं को अन्ध श्रद्धा के सहारे मनवाना चाहते हैं। खैर!

हमको तेरह-पन्थी लोगों से किसी प्रकार का द्वेष नहीं है। संसार के लाखों साधु, गृहस्थों के आश्रय में निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार तेरह-पन्थी साधु भी करें, इसमें हमारे लिए क्या आपत्ति हो सकती है? ऐसा होते हुए भी हमको उनके विरुद्ध जो कुछ लिखना पड़ा है, उनके सिद्धान्तों की जो आलोचना करनी पड़ी है, उनकी मान्यताओं का जो खण्डन करना पड़ा है, वह केवल इस कर्त्तव्यवश कि तेरह-पन्थी साधु अपने सिद्धान्त

को पवित्र जैन धर्म के नाम से लोगों को बताते हैं, इसलिए जैन धर्म के नाम पर लगते हुए कलंक को मिटाने का प्रयत्न करना हमारा एक साधारण कर्तव्य हो जाता है। इस पुस्तक विषयक हमारा प्रयत्न लोगों को तेरह-पन्थ के सिद्धान्तों से परिचित करने और तेरह-पन्थी साधुओं की कुयुक्ति-चक्र से बचाने में सहायक हो, इसीलिए है; अन्यथा उनके व्यक्तित्व से तो मैत्री ही है।

॥ श्री ॥

जैन-दर्शन में
श्वेताम्बर तेरह-पन्थ

मंगलाचरण

जयइ जगजीवजोणि, वियाणओ जगगुरु जगाणंदो ।
जगणाहो, जगबन्धु, जयइ जगप्पियामहो, भयवं ॥ १ ॥

भावार्थ—पंचास्ती कायात्मक लोकवर्ती जीवों की उत्पत्ति के स्थान को जानने वाले, जगद्गुरु, जगत को आनन्द देने वाले, (त्रि) जगत के नाथ, प्राणि-मात्र के बन्धु और जगत के पितामह अर्थात्-प्राणियों का जो रक्षण करता है, वह धर्म उन प्राणियों का पिता है और उस धर्म को भी भगवान तीर्थङ्कर प्रकट करते हैं, इसलिए प्रभु इस जगत के पितामह हैं। वे समग्र ज्ञानादि गुणों से युक्त भगवान महावीर सदा जयवन्त हों और उनका शासन भी सदा जयवन्त हो।

इस अनादि अनन्त संसार-सागर में परिभ्रमण करते हुए भव्य प्राणियों के कल्याणार्थ अनन्त भावदया से परिपूर्ण है आत्मा जिनका, ऐसे भगवान महावीर ने मोक्ष-मार्ग का विधान करते हुए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र की आराधना करने का उपदेश किया है, परन्तु भगवान महावीर सर्वज्ञ होने से संसारी जीवों में क्षयोपशम की विचित्रता को जानकर ज्ञान-दर्शन की आराधना में, साधु और श्रावक का भेद न करते हुए तथा चारित्र आराधना में, साधु और श्रावकों का भेद बतला कर पात्रानुसार, साधु व श्रावक के आचरण का पृथक् पृथक् विधान किया है। जैसे—

"धम्मे दुविहे पनत्ते तंजहा-आगार धम्मे चेव-अणगार धम्मे चेव" (श्री स्थानांग सूत्र-द्वितीय स्थान)

अर्थ—धर्म दो प्रकार का प्ररूपा है—आगार यानि गृहस्थ के आचरण करने योग्य धर्म और अणगार यानि ग्रह-त्यागी साधु के आचरण करने योग्य धर्म। दोनों धर्मों की विशिष्ट व्याख्या करते हुए, आगार धर्म-द्वादश प्रकार का और अणगार धर्म-पांच प्रकार का बतलाया है। दोनों के कल्प, स्थिति और मर्यादा जुदी जुदी कायम की गई है, उन २ मर्यादाओं में रहकर क्रिया अनुष्ठान का आसेवन करे तो वे दोनों ही अपने २ धर्म के आराधक होते हैं; किन्तु मर्यादा का उल्लंघन करके आसेवना करे, क्रिया अनुष्ठान

करें तो वे आराधना के बदले विराधना कर बैठते हैं, परन्तु आश्चर्य यह है कि उन्हीं भगवान के शासन में अपने को मानने वाले जैन श्वे० तेरह-पन्थी लोग-गृहस्थ और साधु का आचरण रूप धर्म एक ही बताते हैं और कहते हैं कि—

जो काम साधु नहीं करे, वह काम श्रावक के लिए भी करने योग्य नहीं है यदि वह करता है तो पाप करता है। कहते हैं कि-

जे अनुकम्पा साधु करे, तो नवा न बांधे कर्म।
तिण मांहिली श्रावक करे, तो तिणने पिण होसी धर्म॥
साधु श्रावक दोनां तणी, एक अनुकम्पा जान।
अमृत सहु ने सारिखो, तिणरी मकरो ताण।

('अनुकम्पा' ढाल दूसरी)

साधु श्रावकनी एक रीति छे तुम जोवो सूत्ररो न्याय रे।
देखो अन्तर मांहि विचारने, कुड़ी काहे करो ताण रे॥

('अनुकम्पा' ढाल तीसरी)

इन और ऐसे ही अन्य कथनों द्वारा तेरह पन्थी लोग यह कायम करना चाहते हैं कि साधु और श्रावक का एक ही आचार है, एक ही रीति है, एक ही अनुकम्पा है। ऐसा ठहरा कर फिर ये साधु के बहाने से जीव रक्षा आदि में भी पाप बताते हैं, परन्तु यह सिद्धान्त उनका बिलकुल गलत है। जीवरक्षादि कार्य शुभ परिणामों के द्वारा होते हैं। अतः शुभ परिणामों में, किसी भी

पाप प्रकृति का बन्ध हो ही नहीं सकता। भगवान महावीर ने तो साधु और श्रावक का आचरण रूप धर्म दो प्रकार का स्पष्टतया बतलाया है, दोनों के कल्प मर्यादाएँ तथा प्रवृत्तिएँ भी पृथक् २ बतलाई है—

अनेक कार्य ऐसे हैं जिन्हें; साधु तो कर सकता है, जिनका न करना साधु के लिए पाप माना जाता है, परन्तु गृहस्थ नहीं करता है और गृहस्थ का न करना, पाप नहीं माना जाता। इसी प्रकार बहुत से कार्य ऐसे हैं, जिन्हें गृहस्थ श्रावक तो करता है परन्तु साधु नहीं कर सकता और उन कामों को नहीं करने पर भी साधु को पाप नहीं लगता। उदाहरण के लिये—साधु यदि भोजन सामग्री रात-बासी रखता है तो उसको पाप लगता है। इतना ही नहीं व्रत भंग भी होता है और संयम की भी विराधना होती है, परन्तु गृहस्थ रखता है फिर भी उसे दोष नहीं लगता। इसी प्रकार यदि गृहस्थ श्रावक भोजन के समय यदि अतिथि संविभाग की भावना नहीं करता है तो उसे व्रतभंग रूप पाप लगता है, क्योंकि आतिथ्य सत्कार करना गृहस्थ जीवन का एक साधारण किन्तु मुख्य धर्म है, परन्तु साधु लोग अतिथि संविभाग नहीं कर सकते। कारण, साधु होते समय, सांसारिक भोगोपभोग की सर्व वस्तुओं का उन्होंने त्याग कर दिया है। जो अन्न वस्त्रादि गृहस्थ के यहां से वे लाते हैं वे अपने गुरु के या अपने संभोगी

साधु के जीवन निर्वाहार्थ ही आते हैं। इसलिये उन्हें दूसरे को देने का अधिकार नहीं है। यदि उन वस्तुओं से वे दूसरे अतिथियों का सत्कार करते हैं तो उन्हें व्रतभंग रूप पाप लगता है। इस प्रकार साधु और श्रावक का आचरण एक हो नहीं सकता।

गृहस्थ और गृहत्यागी, विरक्त और अनुरक्त दोनों का आचरण एक होना, भिन्नता का न होना कदापि संभव नहीं। साधु की कल्प मर्यादा जुदी है और श्रावक की जुदी। साधु में भी जिन-कल्पी और स्थविर-कल्पी का आचार-मर्यादा एक नहीं किन्तु भिन्न है। जो वैयावच्चादि कार्य स्थविर-कल्पी कर सकते हैं वे जिन-कल्पी नहीं कर सकते और जो जिन-कल्पी कर सकते हैं वे स्थविर-कल्पी नहीं करते; तब साधु और श्रावक की समानता कैसे हो सकती है? तेरह-पन्थी लोग कहते हैं कि साधु और श्रावक की अनुकम्पा एक है और रीति भी; परन्तु, यदि दोनों की रीति और कर्तव्य एक ही हों तो साधु सुपात्र और श्रावक कुपात्र कैसे हो सकते हैं? वे लोग श्रावक को कुपात्र क्यों कहते हैं? वे अपने दोनों ग्रन्थ-'अनुकम्पा की ढालें' तथा 'भ्रम विध्वंसन' में श्रावक को कुपात्र कहते हैं। उनसे यदि पूछा जावे कि श्रावक सुपात्र है कि कुपात्र? तो तेरह-पन्थी लोग श्रावक को सुपात्र कभी नहीं कहेंगे। ऐसी दशा में साधु और श्रावक की एक रीति, एक आचार और एक व्यवहार कैसे हो सकता है? भिन्न ही रहा

और भिन्न ही रहेगा। भिन्न रहते हुए भी यदि अपने२ कर्तव्य का पालन करें तो दोनों मोक्ष-मार्ग के पथिक हैं।

श्रावक संसार व्यवहार में रहते हुए, सावधानी-पूर्वक व्रतों की मर्यादा को कायम रखकर संसार के सभी व्यवहारों में प्रवृत्ति कर सकता है, गृह व्यवस्था संभाल सकता है और आत्म आराधना भी कर सकता है; विवेक पूर्वक कार्य करे तो आश्रव के स्थान में संवर भी निपजा लेता है परन्तु जो साधु धर्म अंगीकार करता है, वह संसार त्याग कर सम्पूर्ण निवृत्ति करता है तभं साधु धर्म की आराधना हो सकती है अन्यथा नहीं। वह संसार व्यवहार के कोई कार्य में भाग नहीं ले सकता है। इस प्रकार श्रावक धर्म और साधु धर्म की कल्प मर्यादाएँ भिन्न २ हैं अपने २ कल्प-मर्यादानुसार हरएक को अपनी प्रवृत्ति रखनी चाहिये। ऐसी प्रवृत्ति रखते हैं वे अपने २ धर्म के आराधक हैं।

अब हम तेरह-पन्थी आम्नाय के सिद्धान्तों (मान्यताओं) का संक्षेप में यहां दिग्दर्शन कराकर, आगे प्रकरण-बद्ध उन मान्यताओं एवं उनकी दलीलों का न्याय पूर्वक उत्तर देंगे, यहां तो संक्षेप में पूर्व पक्ष का दिग्दर्शन कराया जाता है।

तेरह-पन्थी लोगों का एक सिद्धान्त यह है कि-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चोरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय यानी संक्षेप में त्रस और स्थावर सभी प्राणि समान हैं। अतः एक त्रस प्राणि की

रक्षा के लिए अनेकों स्थावर प्राणियों की हिंसा क्यों की जावे ? जैसे–किसी को भोजन दिया या पानी पिलाया, तब रक्षा तो एक आत्मा की हुई, परन्तु इस कार्य मे असंख्य और अनन्त स्थावर जीवों का संहार हो जाता है, वह पाप उस जीव-रक्षा करनेवाले को होगा। इतना ही नहीं किन्तु जो जीव बचा है, उसके जीवन भर खाने पीने अथवा अन्य कामों में जो हिंसा त्रस-स्थावर जीवों की होगी, वह हिंसा भी उसी को लगेगी, जिसने उसको मरने से बचाया है।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि— जो जीव मरता है अथवा कष्ट पा रहा है वह अपने पूर्व संचित कर्मों का फल भोग रहा है उसको मरने से बचाना अथवा उसको सहायता करके कष्ट-मुक्त करना, अपने खुद पर का वह कर्म-ऋण चुकाने से उसको वंचित रखना है, जिसे वह मरने या कष्ट सहने के रूप में भोगकर चुका रहा था।

तीसरी मान्यता यह है कि—साधु के सिवाय संसार के समस्त प्राणी कुपात्र हैं। कुपात्र को बचाना, कुपात्र को दान देना कुपात्र की सेवा–सुश्रूषा करना, सब पाप है।

इन्हीं दलीलों (मान्यताओं) के आधार पर तेरह-पन्थी लोग दया और दान को पाप बताते हैं; और इन्हीं सिद्धान्तों की रक्षा के लिये वे कहते हैं कि—

(१) भगवान महावीर ने गोशालक को बचाया, यह उनकी भूल थी। वे छद्मस्त थे, इसलिये उनसे यह भूल हुई।

(२) भगवान पार्श्वनाथ ने आग में जलते हुए नाग नागिन को बचाये, यह कार्य उनका पाप रूप था।

(३) हरिणगमेषी देव ने, देवकी महारानी के छः पुत्रों को बचाकर पाप उपार्जन किया।

(४) धारिणी राणी ने, मेघकुमार जब गर्भ में थे, तब मेघकुमार की रक्षा के लिये खान पानादि में जो संयम किया, वह पाप था।

(५) भगवान् श्री अरिष्टनेमि के दर्शन के लिए जाते समय श्रीकृष्ण वासुदेव ने एक वृद्ध पुरुष पर अनुकम्पा करके उसकी ईंट उठाई, वह पाप का कार्य था।

(६) भगवान श्री ऋषभदेव ने, जो समाज-व्यवस्था स्थापित की, वह कार्य भी पाप था।

(७) भगवान तीर्थंकरों के द्वारा दिया गया वार्षिक दान भी पाप था।

(८) महाराणा मेघरथ ने, कबूतर को बचाया, यह भी पाप का कार्य था।

(९) राजा श्रेणिक का, जीवहिंसा न करने के संबंध में 'अमारी पड़ह' की घोषणा करना भी पाप है।

(१०) राजा प्रदेशी का, दानशाला खोलने का कार्य भी पाप-रूप था ।

इस प्रकार वे जैन-शास्त्र की उन समस्त बातों को पाप ठहराते हैं कि जो बातें जैन-शास्त्रों के लिए आदर्श और भूषण रूप हैं तेरह-पन्थी साधुओं ने अपने सुख, अपनी सुविधा और अपनी रक्षा के सब मार्ग खुले रक्खे हैं । जैसे—

(क) विहार करते समय, रास्ते की सेवा के नाम से गृहस्थों को साथ रखना और उसमें महा लाभ बताना ।

(ख) गृहस्थ श्रावक अपनी आवश्यकता से अधिक भोजन बनाकर भावना के नाम से आमंत्रण देवें और साधु लोग उनके साथ जाकर बगैर छानबीन किये ही ले आवें ।

(ग) गृहस्थों को, सेवा में रहने के लिये त्याग कराना और बारीसर उनको सेवा में रखना ।

इन सब में धर्म एवं महा लाभ बताया है परन्तु अपने से सम्बन्धित कार्यों के सिवाय शेष समस्त कार्यों को वे पाप ही पाप बताते हैं, किसी भी कार्य में धर्म अथवा पुण्य नहीं मानते ।

जो ऊपर दस बातें बताई हैं उन कार्यों में तेरह-पन्थी लोग धर्म व पुण्य नहीं मानते, किन्तु पाप ही बताते हैं । कोई उन्हें पूछे कि ये काम पाप के क्यों हैं ? तो छल-पूर्ण इधर—उधर की बातें करेंगे और प्रश्न को टालने का प्रयत्न करेंगे, जिससे इन कार्यों

में स्पष्ट पाप नहीं कहना पड़े। ये लोग अपने छल-कपट के लिए प्रसिद्ध ही हैं। उनको दिन रात ऐसी बातें करने की शिक्षा मिलती रहती है कि जिससे वे दूसरों को अपने जाल में फँसालें, परन्तु स्वयं किसी बात की पकड़ में न आवें। कदाचित कोई उन्हें किसी बात में पकड़ लेगा, तो उस वक्त वे या तो यह बहाना लेंगे कि-

(१) इस विषय के लिये शास्त्र में बहुत देखना पड़ेगा, बिना देखे क्या कहें।

(२) आज तो अब समय होगया है, इसलिए पूरा उत्तर नहीं दे सकते। क्योंकि इस बात का उत्तर बहुत लम्बा है।

साधारण आदमी से तो वे ऐसा कहकर पिण्ड छुड़ा लेते हैं, परन्तु वे देखते हैं कि यह आदमी हमारा पिण्ड छोड़ने वाला नहीं है तब वे उससे सदा के लिये अपना पीछा छुड़ा लेने को कह बैठते हैं कि आप तो हमारी आशातना करते हैं। इसलिये हम आपसे बात नहीं करते।

ये ही तीन मार्ग किसी जानकार से अपना पीछा छुड़ाने के हैं।

संक्षेप में इन लोगों की स्थूल स्थूल मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया गया है। अब अगले प्रकरणों में इनकी मान्यताओं का उत्तर पक्ष करके विशद रूप से निराकरण करेंगे।

त्रस और स्थावर जीव —
— समान नहीं है।
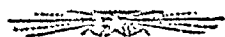
अब हम तेरह पन्थियों के उन सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हैं जिनके आधार पर तेरहपन्थी लोग प्राणी रक्षा तथा अनुकम्पा करके दिये गये दान में पाप बताते हैं। यह तो बताया ही जा चुका है कि साधु और श्रावक का आचार एक नहीं है। उनकी दूसरी दलील यह है, कि एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक के जीव समान हैं। इसलिए एकेन्द्रियादिक जीवों की हिंसा करके पंचेन्द्रिय की रक्षा करना धर्म या पुण्य कैसे हो सकता है? वे कहते हैं कि—

जीव मारी जीव राखणा, सूत्र में नहीं हो भगवन्त वयन।
ऊँधो पंथ कुगुरु चलावियो, शुद्ध न सूझे हो फूटा अंतर नयन॥

'अनुकम्पा ढाल ७वीं'

अर्थात—जीव मारकर जीव की रक्षा करने के लिए सूत्र में भगवान के कोई वचन नहीं है, किन्तु यह उल्टा मार्ग

कुगुरुओं का चलाया हुआ है, जिनकी अभ्यन्तर आंखें फूटी हुई हैं और जिन्हें शुद्ध मार्ग नहीं दिखता।

रांका ने मार धींगा ने पोसे, आतो बात दीसे घणी गैरी।
इण मांही दुष्टी धर्म प्ररुपे तो, रांक जीवां रा उठिया वैरी॥

('अनुकम्पा' ढाल १३वीं)

अर्थात—गरीबों [स्थावरों] को मार कर सशक्त (त्रस का पोषण करना बहुत बुरी बात है, परन्तु गरीबों [स्थावरों] के शत्रु दुष्ट लोग ऐसे खड़े हुए हैं कि इस कार्य में भी धर्म बताते हैं

जीवां ने मार जीवां ने पोषे ते तो मार्ग संसार नो जाणोजी
तिण मांही साधु धर्म बतावे ते पूरा मूढ अयाणोजी
छःकाय रा शस्त्र जीव असंयती त्यांरो जीवणों मरणो न चावेः
त्यांरो जीवणो मरणो साधु चावे तो राग द्वेष वेहूं आवेजा।

('अनुकम्पा' ढाल ९वीं)

अर्थात—ऐसा कहते हैं कि एकेन्द्रिय जीवों को मारकर पंचेन्द्रिय जीवों का पोषण करना संसार का पाप पूर्ण कार्य है। यदि इस तरह के कार्य को कोई साधु धर्म बताता है, तो वह पूरा मूर्ख और अज्ञानी है। अव्रती जीव (साधु के सिवाय संसार के सभी जीव) छः काय के जीवों के लिए अस्त्र के समान हैं। इसलिए अव्रती को जीवित रखने या मारने की इच्छा तक

न करनी चाहिये। अव्रती का जीवित रहना या मरना जो साधु चाहता है, उसको राग और द्वेष दोनों ही लगते हैं। *

इन और ऐसे ही दूसरे कथनों द्वारा तेरह-पन्थी साधु एकेन्द्रिय [पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव] तथा पंचेन्द्रिय [मनुष्य, गाय, हाथी, घोड़ा आदि] को समान सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि पंचेन्द्रिय की रक्षा करने में एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है, इसलिए रक्षा करना पाप है। जो पंचेन्द्रिय जीव बचा है, उसको बचाते समय भी एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है, और वह जीवित रहकर भी एकेन्द्रिय जीव [अन्न, जल, वनस्पति, वायु आदि] की खान-पान श्वासोच्छ्वास द्वारा हिंसा करेगा। इसलिए किसी भी जीव को बचाना पाप है।

तेरह-पन्थी लोग एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को समान बताते हैं परन्तु वास्तव में उनका यह कथन असंगत है। स्वयं तेरह-पन्थी लोग एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को समान बताते हुए भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय को महत्व देते हैं तथा पंचेन्द्रिय

---

* यह न भूलना चाहिए कि तेरह-पन्थी लोग साधु और गृहस्थ का आचरण एक बताते हैं और इसलिए जो कार्य साधु के लिए निषिद्ध है, वही गृहस्थ श्रावक के लिए भी निषिद्ध है, ऐसा सिद्धान्त कायम करते हैं।

की रक्षा और पंचेन्द्रिय के हित के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा खुद करते हैं। गृहस्थ को तो केवल त्रसकायिक हिंसा का ही त्याग होता है, परन्तु साधु को तो जीव मात्र-छहों काय के जीवो की हिंसा का त्याग है। ऐसा त्याग होने पर भी वे पंचेन्द्रिय के हित और पंचेन्द्रिय की रक्षा के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करते हैं। जो बताया जाता है।

शास्त्रानुसार हाथ-पैर के हिलने मात्र से वायुकायिक असंख्य जीव नष्ट होते हैं। यह बात तेरह-पन्थियों को भी स्वीकार है। ऐसा होते हुए भी वे प्रतिलेखन (वस्त्र पात्रादि का) करते हैं, यह क्यों ? वस्त्र पात्रादि का प्रतिलेखन करके उसमें रहे हुए त्रसकायिक जीवों को ही बचाया जाता है या और कुछ ? प्रति-लेखन करने का उद्देश्य ही क्या है ? यदि त्रसकायिक जीवों की रक्षा करना उद्देश्य नहीं है तो फिर प्रतिलेखन ही क्यों किया जाता है और वायुकायिक जीवों की व्यर्थ हिंसा क्यों की जाती है ? प्रतिलेखन करते हुए त्रस जीवों को वस्त्रादि में से अलग किया जाता है, इससे स्पष्ट है कि त्रस जीवों की रक्षा के लिए ही प्रतिलेखन किया जाता है, परन्तु प्रतिलेखन करने में कितने वायुकायिक जीवों की हिंसा हुई ? तब आपने असंख्य वायु-कायिक जीवों की हिंसा द्वारा कुछ थोड़े से त्रस जीवों को ही बचाया या और कुछ किया ?

यदि तेरह-पन्थी लोग यह कहें, कि प्रतिलेखन करना हमारा धार्मिक कृत्य है, और इस कृत्य को नित्य दोनों समय करने के लिए भगवान की आज्ञा है, इसलिए हमको करना पड़ता है। तथा इसमें वायुकाय के जीवों की जो हिंसा होती है, वह क्षम्य अथवा नगण्य है; तो हम उनसे पूछते हैं कि भगवान की आज्ञा होने पर भी, अथवा प्रतिलेखन के कार्य की वायुकायिक हिंसा नगण्य एवं क्षम्य होने पर भी वायुकायिक जीवों की हिंसा तो हुई या नहीं? और यह हिंसा त्रसकायिक जीवों को बचाने के लिए ही हुई या और किसी लिए? तथा इस प्रकार आपने अथवा भगवान ने वायुकाय के एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा त्रस-काय के जीवों को बड़े माने या नहीं?

तेरह-पन्थी साधु कहें कि प्रतिलेखन करने का उद्देश्य हमारा त्रसकायिक जीवों को बचाना नहीं है, किन्तु हमको अपने वस्त्र, पात्र या शरीर द्वारा होनेवाली हिंसा से बचना है।

बहुत ठीक, त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिए ही सही, वायुकायिक जीवों की हिंसा तो हुई या नहीं? असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा करने पर ही आप थोड़े से त्रस जीवों की हिंसा से अपने को बचा सके न? फिर एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय बराबर कैसे रहे?

यदि आपके सम्प्रदाय में वस्त्र-पात्र हैं, इसलिए उनके द्वारा

होने वाली हिंसा का पाप आपको लग सकता है, और आप उस पाप से बचने के लिए ही असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा करते हैं, और अपना पाप टालने के लिए आपने जिस जीव को बचाया है, उसके बचने का पाप आपको नहीं लगा, तो क्या आप गृहस्थ के लिए भी ऐसा मानते हैं ? मान लीजिये कि एक गृहस्थ ने एक कुआं खुदवाया। उस कूए में एक गाय गिर गई। गृहस्थ ने उस गाय को कूए में से निकाल कर अपना पाप टाला और उसकी रक्षा की; तो आपके सिद्धान्तानुसार उस गृहस्थ को कोई पाप तो नहीं हुआ ? * यदि पाप हुआ, तो आपने प्रतिलेखन द्वारा जिन जीवों को बचाया, उन जीवों के बचने से आपको पाप क्यों नहीं हुआ ?

---

* सरदार शहर में सोहनलालजी बरडिया नाम के एक सज्जन हैं जो कट्टर तेरह पन्थी श्रावक थे। सन १९२८-२९ के लगभग वे अपना एक मकान बनवा रहे थे। मकान बनाने के लिए पानी भरने के वास्ते उन्होंने मकान के सामने एक हौज बनवाया था। उस हौज में पानी भरा हुआ था। एक बछिया (गाय की बछड़ी) उस हौज में गिर गई और तड़फड़ाने लगी। सोहनलालजी भी वहां मौजुद थे। उन्होंने स्वयं अपने मजदूरों की सहायता से उस बछिया को निकाल दिया। कुछ दूसरे लोग जो तेरह-पन्थी नहीं थे वहां पर मौजूद थे। उन्होंने सोहनलालजी से कहा कि आपके धर्मानुसार तो आपको बछिया को निकाल देने से कोई पाप हुआ। सोहनलालजी ने कहा कि पाप क्यों हुआ ? मैंने बछिया को कष्ट तो दिया ही नहीं है बल्कि कष्ट से बचाया ही है।

और सुनिये ! आप रजोहरण क्यों रखते हैं ? पैर के नीचे कोई त्रस जीव आकर दब न जावे, इसीलिए या और किसी कार्य के लिए ? परन्तु रजोहरण हिलाने में वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है या नहीं ? असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा करके तब कहीं आप थोड़े से त्रस जीवों को बचा पाते हैं । ऐसी दशा में एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा त्रस जीवों का महत्व अधिक रहा या नहीं ? त्रस जीवों की रक्षा के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा कीगई या नहीं ?

मोहनलालजी के बाप-दादा तेरह पन्थी श्रावक थे, इसी से मोहनलालजी भी तेरह-पन्थी श्रावक कहलाते थे, परन्तु वास्तव में तेरह पन्थ के सिद्धान्त क्या और कैसे हैं ? यह उनको पता न था । लोगों ने मोहनलालजी से कहा कि आप हम पर नाराज़ मत होइए, किन्तु तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के आचार्य, पूज्य श्री कालूरामजी महाराज यहाँ पर विराजते हैं, उन्हीं से जाकर पूछ लीजिये । मोहनलालजी उसी समय श्री कालूरामजी महाराज के पास गये । उन्होंने श्री कालूरामजी महाराज को समस्त घटना कह सुनाई और प्रश्न किया कि बकरों के पैसा देने से मुझे धर्म हुआ या पुण्य अथवा पाप हुआ ? श्री कालूरामजी महाराज ने कहा कि न धर्म हुआ, न पुण्य हुआ, किन्तु पाप हुआ । मोहनलालजी ने कहा कि ऐसा क्यों ? मैंने उन बकरों को कोई दुःख तो दिया ही नहीं है, फिर मुझे पाप क्यों हुआ ? श्री कालूरामजी ने कहा कि वह बकरे जिन्हें तुमने बचाए हैं, खावेंगे, पीवेंगे, जिससे अनेक जीवों की हिंसा होगी, फिर वह मैथुन का पाप करेंगे, उनसे सन्तान होगी, वह भी खावेंगी, पीवेंगी और मैथुनादि पाप करेंगी । इस प्रकार

तीसरी दलील सुनिये। तेरह-पन्थी साधु से यदि यह प्रश्न किया जावे कि आप विहार करके यहां क्यों आये हैं ? तो वे यही कहेंगे कि धर्म प्रचार के लिए, अथवा लोगों को शुद्ध धर्म बताने के लिए, या अपने गुरु की आज्ञा पालन करने के लिए।

उस करड़ी के कारण पाप की जो परम्परा चली, वह तुम्हें भी लगेगी।

उस दिन सोहनलालजी को अपने धर्म का असली स्वरूप ज्ञात हुआ उन्होंने श्री कालूरामजी महाराज से कहा कि आप अपने धर्म को अपने पास ही रखिये, मुझे आपका यह धर्म नहीं चाहिए। मैं तो धर्म का सार यह समझता था कि—

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत।" अर्थात्—

जो अपने आत्मा को बुरा लगता है, वह व्यवहार दूसरों के साथ न करो, किन्तु दूसरे के साथ भी वह व्यवहार करो जो अपने आत्मा को अच्छा लगता है।

इसके अनुसार यदि मैं पानी में डूबने लगता तो यही चाहता कि कोई मुझे बचाले। यही बात वह करड़ी भी चाह रही थी। फिर मैंने बचा दिया तो मुझे पाप कैसे होगया ? कदाचित किसी दिन मैं भी पानी में डूबने लगूं और कोई आपके सिद्धान्त का अनुसरण करके मुझे न निकाले तो मुझे कितना दुःख होगा। इसलिए आज से मैं तेरह पन्थ सम्प्रदाय को त्यागता हूं। मैं किसी धर्म का अनुयायी न रहना तो अच्छा मानूंगा परन्तु तेरह-पन्थ का अनुयायी कदापि न रहूंगा।

उस दिन से सोहनलालजी ने तेरह-पन्थ सम्प्रदाय को सदा के लिए त्याग दिया।

—लेखक

परन्तु आप यहां इतनी दूर चल कर आये, इसमें कितने वायु-कायिक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा हुई? साथही थोड़ी बहुत अन्य स्थावर तथा त्रस जीवों की भी हिंसा हुई होगी। वह हिंसा आपने किसके हित के लिए की? आपका धर्म कौन सुनेगा? आपके धर्म से किसको लाभ होगा? मनुष्य ही सुनेंगे या एकेन्द्रिय जीव भी? आपके धर्म से यदि कुछ लाभ होगा तो मनुष्य को ही होगा या एकेन्द्रियादि जीवों को? उनके लाभ के विषय में तो आप स्पष्ट कहते हैं—

केइक अज्ञानी इम कहे, छः काया काजे हो देवां धर्म उपदेश। एकण जीव ने समझावियां, मिट जावे हो घणा जीवां रा कलेश। छः काय घरे शान्ति हुवे, एहवा भाषे हो अन्य तीर्थी धर्म। त्यां भेद न पायो जिन धर्म रो ते तो भूल्या हो उदय आया अशुभ कर्म॥

('अनुकम्पा ढाल ५वीं')

इस कथनानुसार आपका उपदेश और किसी के कल्याण के लिए तो है ही नहीं। केवल उन्हीं के कल्याण के लिए हो सकता है, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप स्वीकार कर सकते हैं और ऐसा मनुष्य ही कर सकते हैं। इस प्रकार आपका आगमन केवल मनुष्यों के हित के लिए ही रहा न? परन्तु मनुष्यों के

से पहले संथारा करने की आज्ञा नहीं दी, तो इससे स्पष्ट है, कि उन्होंने असंख्य एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा 'मनुष्य-जीवन को अधिक माना है और तेरह-पन्थी साधु भी ऐसा ही मानते हैं, तभी तो इतनी हिंसा करके भी जीवित रहते हैं, ।

अब पांचवीं दलील सुनिये ! साधु जब एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं, तब यदि मार्ग में, नदी आती हो, तो उस नदी को पार करते हैं । यदि नदी में नाव लगती हो, तब तो नाव के द्वारा नदी पार करते हैं और यदि नाव नहीं लगती है, तथा पानी घुटने से नीचे है, तो पानी में उतर कर पार जाते हैं । चाहे नाव में बैठकर जावें या पानी में उतर कर जावें, अपकायिक जीवों की हिंसा तो होती ही है । भगवान ने जल के एक एक बिन्दू में पानी के असंख्य २ जीव कहे हैं । जल के आश्रित निगोद है, और निगोद में अनन्त जीव भी हैं । उन जीवों की हिंसा करके साधु, पार जाते हैं, परन्तु जाते हैं किसलिए ? लोगों को धर्मोपदेश सुनाने के लिए ही न ? और उनके द्वारा सुनाये जाने वाले धर्मोपदेश से यदि किसी को फायदा होता है, तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप स्वीकार करने वाले थोडे से मनुष्यों को ही । यदि एकेन्द्रिय जीव और पंचेन्द्रिय जीव समान है, तो फिर असंख्य बल्कि अनन्त जीवों की हिंसा थोडे से मनुष्यों के हित के लिए क्यों की जाती है ? यह एक बार दो बार नहीं, किन्तु

आचारंग सूत्र के अनुसार साधु एक मास में दो बार नदी उतर सकते हैं। ऐसी दशा में एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव समान कैसे रहे? यदि समान होते तो क्या भगवान शास्त्र में इस तरह का विधान कर सकते थे?

छट्ठी दलील भी देखिये! साधु जब चलते फिरते हैं, तब वायुकायिक जीवों की भी हिंसा होती है और समय पर जलकाय तथा वनस्पति काय के जीवों की भी। इस तरह से दिन भर प्रत्येक साधु द्वारा असंख्य असंख्य जीवों की हिंसा होजाती है। दूसरी ओर मान लीजिये कि एक साधु के पैर के नीचे आकर एक पंचेन्द्रिय त्रास जीव मर गया। क्या पंचेन्द्रिय के मरने का प्रायश्चित भी उतना ही होगा, कि जितना प्रायश्चित चलने फिरने से मरने वाले वायु, जल और वनस्पतिकायिक जीवों के लिए होता है? यदि उतना ही प्रायश्चित होता है तो क्यों? पंचेन्द्रिय त्रस जीव तो एक ही मरा है और वायु, जल, वनस्पति के असंख्य तथा अनन्त जीव मरे हैं। फिर एक तरफ असंख्य जीव का प्रायश्चित समान क्यों है? और यदि उस त्रस जीव के लिए अधिक प्रायश्चित लेना पडा, तो अधिक क्यों लेना पडा? जब कि आपकी मान्यतानुसार जीव जीव सब समान हैं, चाहे एकेन्द्रिय हो, द्वीन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय हो। इन दोनों ही बातों से स्पष्ट हैं कि स्थावर जीवों की अपेक्षा त्रस जीव का महत्व

अधिक है और एक त्रस जीव की समानता में असंख्य ही नहीं, बल्कि अनन्त स्थावर जीव भी नहीं हो सकते।

सातवीं दलील देखिये! तेरह-पन्थी लोग एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को समान तो बताते हैं, लेकिन वे अपने इस सिद्धान्त पर टिक नहीं सकते। मनुष्य जीवन निर्वाह के लिए नित्य असंख्य और अनन्त एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करते हैं। अन्न में भी जीव है, पानी में भी जीव है, वनस्पति में भी जीव है और अग्नि आदि में भी। मनुष्य के जीवन-निर्वाह के लिए इस प्रकार की हिंसा अनिवार्य मानी जाती है। कदाचित कोई व्यक्ति तेरह-पन्थियों के सिद्धान्त पर विचार करे और सोचे कि बाजरे, गेहूं या मोठ के एक एक दाने में भी एक एक जीव है और साग तरकारी में तो असंख्य या अनन्त जीव हैं, लेकिन एक बकरे में एकही जीव है, फिर जब एक ही जीव की हिंसा से मेरा काम चल सकता हो, तो गेहूं, बाजरे, मोठ या साग के असंख्य जीवों की हिंसा क्यों की जावे? इस तरह इनके सिद्धान्त को कोई इस रूप व्यवहार में लाने लगे और गेहूं, बाजरा, मोठ और साग के अनन्त जीवों की हिंसा से बचकर एक ही बकरे की हिंसा से अपना काम चलाने लगे, तो क्या यह ठीक होगा? कदाचित तेरह-पन्थी कहें कि मांस-भक्षण निषिद्ध है, तो हम उनसे कहेंगे कि मांस भी जीव का कलेवर है और गेहूं का आटा भी जीवों

का कलेवर ही है । आपकी दृष्टि में जीव जीव में तो अन्तर है ही नहीं । फिर गेहूं, बाजरे का कलेवर न खाकर बकरे का कलेवर खाने वाले ने तो आपके सिद्धान्तानुसार बहुत जीवों की हिंसा ही टाली है । एक जीव की हिंसा करके असंख्य जीवों की हिंसा से बचा है, फिर आपके सिद्धान्तानुसार उसने क्या बुरा किया ?

इस युक्ति पर से तेरह-पन्थी साधु यह हल्ला मचावेंगे कि जैन होकर इस तरह का उदाहरण देते हैं। शर्म भी नहीं आती। परन्तु तेरह-पन्थियों को भी शर्म नहीं आती, जो कहते हैं कि—

(१) कबूतर को दाना डालना पाप है, क्योंकि प्रत्येक दाने में जीव है ।

(२) किसी को पानी पिलाना पाप है, क्योंकि पानी की एक एक बूंद में असंख्य असंख्य जीव हैं ।

(३) गायों को घास डालना, लंगड़े अन्धे को रोटी देना और मां बाप की सेवा करना पाप है ।

(४) कसाई से गाय को छुड़ा देना पाप है ।

तेरह-पन्थी लोग अपने आपको जैन और भगवान महावीर के अनुयायी बताकर जब इस तरह के और ऐसे ही दूसरे कामों को पाप बताने में नहीं शर्माते, तब उन्हीं के सिद्धान्त पर दी गई दलील के विषय में वे क्यों चिढ़ते हैं ?

आठवीं दलील सुनिये ! मान लीजिये कि तेरह-पन्थी साधु के पास तीन आदमी आये और कहने लगे कि हम आपके श्रावक होना चाहते हैं। उन तीनों में से एक आदमी ने कहा कि महाराज ! आप इन दो आदमियों को अपना श्रावक मत बनाइये। ये लोग महान हिंसक हैं। ये लोग जब महान् हिंसा त्याग कर मेरी तरह अल्प हिंसा से आजीविका करें, तब इनको श्रावक बनाइयेगा। देखिये, इनमें से यह एक आदमी तो गेहूं और बाजरा पीसकर आटा बेचता है ! गेहूं और बाजरे के प्रत्येक दाने में एक एक जीव है, इसलिए यह नित्य प्रति असंख्य जीवों का संहार करता है। यह दूसरा आदमी दिन भर तरबूज काट काट कर बेंचता रहता है। वनस्पति में असंख्य २ जीव हैं, इसलिए यह नित्य प्रति असंख्य जीवों की हिंसा करता है। लेकिन मैं दिन भर में केवल एक बकरा, पैसे देकर दूसरों से कटवाता हूं और उसका गोश्त बेंच लेता हूं ! इस प्रकार मैं एक ही जीव की हिंसा से अपनी आजीविका करता हूं और वह हिंसा भी स्वयं नहीं करता, किन्तु दूसरे से करवाता हूं। तथा मैं गोश्त भी नहीं खाता हूं। इसलिए आप मुझे ही श्रावक बना दीजिए।

तेरह-पन्थी साधु किसे अपना श्रावक बनावेंगे और किसे न बनावेंगे ? बकरे की हिंसा त्याग देने पर श्रावक बनाना दूसरी

बात है, लेकिन तीनों आदमी अपना अपना व्यवसाय त्यागे बिना ही यदि श्रावक होना चाहें, तो तेरह-पन्थी किसको तो श्रावक बनावेंगे और किसको न बनावेंगे ? क्योंकि उनकी दृष्टि में तो सब जीव समान हैं। इसलिए बकरे द्वारा आजीविका करने वाले को ही अपना श्रावक बनाना चाहिये, दूसरों को नहीं। ऐसा होते हुए भी यदि वे बकरे द्वारा आजीविका करने वाले को अपना श्रावक नहीं बनाते हैं, तो फिर यह किस बिना पर कहते हैं, कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा समान है ? अथवा एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा समान है, अथवा एकेन्द्रिय को मारकर पंचेन्द्रिय का पोषण करना पाप है।

नवमीं दलील सुनिये। जैन शास्त्रों में त्रस-पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने वाले को नरक जाना कहा है, परन्तु क्या कहीं यह भी कहा है कि स्थावर जीव की हिंसा के पाप से कोई नरक में गया ? तेरह-पन्थियों से ही प्रश्न किया जावे कि एक आदमी नित्य सवा सेर आलू खाता है और प्रत्येक आलू में अनन्त २ जीव हैं। इसके सिवाय वह और कोई पाप नहीं करता। लेकिन दूसरा आदमी जमीकन्द या लीलोत्री को छूता भी नहीं है. परन्तु उसने जीवन भर में केवल एक मनुष्य, गाय, बकरे या सांप को मार डाला है तो आपके सिद्धान्तानुसार नरक में कौन जावेगा ? और यदि दोनों ही नरक जावेंगे तो अधिक स्थिति किसकी होगी ?

तथा आप जो कुछ उत्तर दे रहे हैं उसको किस शास्त्र के किस पाठ का समर्थन प्राप्त है ?

अन्तिम दसवीं दलील देकर हम इस विषय को समाप्त कर देंगे। भगवान अरिष्टनेमि को संयम लेने से पूर्व तेरह-पन्थी श्रावक जितना ज्ञान तो रहा ही होगा यानी इतना तो वे जानते ही होंगे कि जल की एक एक बूंद में असंख्य २ जीव हैं। ऐसा होते हुए भी उन्होंने राजमति के यहां जाने से पूर्व मिट्टी, तांबा, पीतल, सोने और चांदी इनमें से प्रत्येक के बने हुए एक सो आठ घड़ों के जल से स्नान किया। यह कितने जीवों की हिंसा हुई ? फिर बरात सजाकर राजमती के यहां गये। उसमें भी कितने त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा हुई होगी ? इतनी बड़ी-बड़ी हिंसा के समय तो वे कुछ भी न बोले और राजमती के यहां बाड़े में बन्द पशुओं को देखकर कहा—

जइमज्झ कारणा ए ए, हम्मंति सु बहु जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई॥

('उत्तराध्ययन सूत्र' २२ वां अध्याय)

अर्थात—मेरे कारण होनेवाली यह बहुत जीवों की हिंसा, मेरे लिए परलोक में श्रेयकारी नहीं हो सकती।

भगवान अरिष्टनेमि के लिए पूर्व के इक्कीस तीर्थङ्कर स्पष्ट कह गये थे, कि अरिष्टनेमिजी बाल ब्रह्मचारी रहेंगे और भगवान

अरिष्टनेमि स्वयं भी जानते थे कि मुझको विवाह नहीं करना है। ऐसा होते हुए भी उन्होंने अपने विवाह की तैयारी का ही विरोध क्यों नहीं किया; किन्तु स्नान द्वारा असंख्य एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की और बारात द्वारा होने वाली त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा भी देखते रहे। इन दोनों हिंसाओं का उन्होंने कोई विरोध नहीं किया, न उनके विषय में यही कहा, कि यह हिंसा परलोक में मेरे लिये श्रेयस्कर नहीं हो सकती। बल्कि स्नान द्वारा जलकाय आश्रित अनन्त जीवों की हिंसा तो उन्होंने अपने हाथ से ही की थी।

बाड़े में बन्द पशु-पक्षियों की जो हिंसा होती, वह उनके स्वयं के हाथ से न होती। इसके सिवाय बाड़े में बन्द पशु-पक्षियों की संख्या भी सीमित ही हो सकती है। सो दो-सौ, हजार-दो हजार या अधिक से अधिक दस हजार मान लीजिये। लेकिन जल के जो स्थावर जीव मरे, उनका तो अन्त ही नहीं है, न उन जीवों की ही संख्या हो सकती है, जो बारात के सजने और जाने में त्रस तथा स्थावर जीव मारे गये। फिर बाड़े में बन्द थोड़े से जीवों की हिंसा के लिए तो कहा कि मेरे लिए परलोक में यह हिंसा श्रेयस्कर नहीं हो सकती और जलादि के अनन्त जीवों के लिए ऐसा कुछ भी नहीं कहा, न उनकी हिंसा के लिए खेद या पश्चाताप ही किया।

ऐसी दशा में एकेन्द्रिय जीव से पंचेन्द्रिय जीव प्रधान रहे या नहीं ? और एकेन्द्रिय जीवों की उपेक्षा करके भी पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना सिद्ध हुआ या नहीं ? फिर जब सारथी ने उन बाड़े और पींजरे में बन्द पशु पक्षियों को खोल दिया, तब भगवान अरिष्टनेमि ने सारथी को अपने आभूषण इनाम में दिये। जो पशु-पक्षी जीवित रहे, वे कितनी हिंसा करेंगे। उस हिंसा को जानते हुए भी भगवान ने सारथी को पुरस्कार क्यों दिया ?

तेरह-पन्थी लोगों के सिद्धान्तानुसार तो किसी जीव को कुछ देना पाप है, किसी जीव के प्रति करुणा करना राग है, जो अनेक भव तक जन्म-मरण कराने वाली है। फिर भगवान अरिष्टनेमि ने दोनों ही काम क्यों किये ? जीवों पर करुणा भी की, तथा उनको बचाया भी। फिर भी उन्हें भव-भ्रमण करना न पड़ा, वे तद्भव ही सिद्ध हुए। यदि भगवान अरिष्टनेमि की इच्छा जीवों को बचाने की न होती, तो बेचारे सारथी की क्या ताकत थी जो वह उग्रसेन के बाड़े पींजरे में बन्द पशु पक्षियों को खोल देता। और कदाचित सारथी ने उनकी इच्छा न होने पर भी पशु पक्षियों को छोड़ दिया था, तो भगवान अरिष्टनेमि ने अपने आभूषण पारितोषिक रूप में उसको क्यों दिये ? यदि वैराग्य आ जाने से दिये तो मुकुट क्यों न दे दिया ?

तेरह पन्थी तो कहते हैं कि—

धन धान्यादिक लोकां ने दिया यह तो निश्चय ही सावद्य दानजी । तिण में धर्म नहीं जिण राज रो ते भाख्यो छे श्री भगवानजी ॥

(' अनुकम्पा ' ढाल १२ वीं)

अर्थात्—लोगों को धन धान्य देना निश्चय ही सावद्य (पाप) दान है । उसमें जिनराज का धर्म नहीं है, ऐसा श्री भगवान ने कहा है ।

इसके अनुसार भगवान अरिष्टनेमि ने सारथी को आभूषण देकर क्यों पाप किया ? जिसमें धर्म नहीं है और जो सावद्य (पाप) है, वह दान भगवान अरिष्टनेमि ने क्यों दिया ? * क्या उनको तेरह पन्थ के एक साधारण साधु एवं श्रावक जितना ज्ञान भी

---

* तेरह पन्थी लोग दान में पुण्य नहीं मानते । यदि वे दानादि में पुण्य का बन्ध होना मानते हों, तब तो फिर चाहिए ही क्या । लेकिन वे तो स्पष्ट कहते हैं कि—

"पुण्य तो धर्म लारे बंधे छे, ते शुभ योग छे । ते निर्जरा बिना पुण्य निपजे नहीं । ते माटे असंयति ने दियां धर्म पुण्य नहीं ।"

('भ्रम-विध्वंसन' दानाधिकार बोल २०)

अर्थात पुण्य तो निर्जरा के साथ उत्पन्न होता है, इसलिए असंयति को देने से न धर्म है न पुण्य ।

न था ? तेरह-पन्थ के सिद्धान्तानुसार असंयति होने के कारण वह सारथी कुपात्र था, * इसलिए उन्होंने कुपात्र को आभूषण तथा वर्षी दान देकर मांस-भक्षण व्यसन कुशीलादिक के समान पाप क्यों किया ? ÷ तेरह-पन्थी लोग चाहे भगवान अरिष्टनेमि के इन कार्यों को भी पाप कहने का साहस कर डालें, परन्तु वास्तव में भगवान अरिष्टनेमि के चरित्र से यह स्पष्ट है कि-

(१) एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा प्रधान है, एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा गौण है।

(२) पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा महत्व सूचक नहीं है।

(३) साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना पाप नहीं है।

इन समस्त दलीलों द्वारा यह बताना इष्ट है कि एकेन्द्रिय

---

* "साधु थी अनेरा कुपात्र छे। तेहने दीधां अनेरी प्रकृति नो बंध ते अनेरी प्रकृति पाप नी छे।"

('भ्रम-विध्वंसन' दानाधिकार बोल १८)

अर्थात—साधु के सिवा सब लोग कुपात्र हैं और कुपात्र को देने से दूसरी प्रकृति पाप की है, उसका बंध होता है।

÷ "कुपात्र दान, मांसादि सेवन, व्यसन कुशीलादिक ये तीनों ही एक मार्ग के ही पथिक हैं।"

['भ्रम-विध्वंसन' दानाधिकार बोल २१ का फुटनोट]

और पंचेन्द्रिय जीव समान नहीं है, किन्तु एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों का महत्व बहुत अधिक है । पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा के लिए एवं पंचेन्द्रिय जीव के कल्याण के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा नगण्य है । एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होते हुए भी पंचेन्द्रिय जीव (मनुष्य) का हित साधु को करना, जैन शास्त्र सम्मत है । तेरह-पन्थी लोग दया दान के विरोधी होने से ही एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव को समान बताकर एकेन्द्रिय की हिंसा के नाम पर पंचेन्द्रिय की रक्षा को पाप बताते हैं । वे लोगों को धोखे में डालते हैं, लोगों में भ्रम फैलाते हैं और जैन धर्म के नाम पर लोगों को उल्टे मार्ग पर ले जाते हैं । यदि ऐसा नहीं है, तो फिर तेरह-पन्थी साधु स्थावर जीवों की रक्षा के लिए—

(१) प्रतिलेखन करना क्यों नहीं त्यागते ?

(२) रजोहरण का उपयोग करना क्यों नहीं छोड़ते ?

(३) ग्रामानुग्राम विहार करना क्यों नहीं त्यागते ?

(४) आहार-पानी त्यागकर संथारा क्यों नहीं कर लेते ?

(५) नदी के पार जाना क्यों नहीं छोड़ते ?

(६) पंचेन्द्रिय जीव के मर जाने पर ज्यादा प्रायश्चित क्यों लेते हैं ?

(७) मांस-भक्षी की अपेक्षा अन्न या वनस्पति-भोजी को बड़ा पापी क्यों नहीं मानते ?

(८) बकरे के वध और व्यवसाय द्वारा आजीविका करने वाले को श्रावक क्यों नहीं बनाते ?

(९) पंचेन्द्रिय जीव की अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव के हिंसक को अधिकाधिक नरक होना क्यों नहीं मानते ?

मतलब यह है कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव समान नहीं हैं। पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा के सामने एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा महत्व-पूर्ण नहीं है। क्योंकि धर्म का विधान करते हुए भगवान तीर्थङ्करों ने गृहस्थ के लिए स्थावर जीवों की पूर्ण दया अशक्य जानी, तब श्रावक व्रतों में त्रस जीव की हिंसा त्यागना आवश्यक बताकर उसे त्यागने का विधान किया है। इसलिए महा ज्ञानियों की दृष्टि में भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय की रक्षा विशेष महत्वपूर्ण है, और यह बात तेरह-पन्थियों के व्यवहार से भी सिद्ध है, जो ऊपर बताया गया है। इस सम्बन्ध में और भी बहुतसी दलीलें देकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि पंचेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव की हिंसा को तेरह-पन्थी लोग भी उपेक्षणीय मानते हैं, परन्तु पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जावेगा, इसलिए हम इतनी ही दलीलें देकर सन्तोष करते हैं। और इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

ारा जाता हुआ जीव, कर्म की निर्जरा नहीं करता, किन्तु अधिक कर्म बांधता है।

तेरह-पन्थी लोग कहते हैं कि जो जीव मर रहा है या कष्ट पा रहा है, वह अपने पूर्व संचित कर्म का भुगतान कर रहा है। ऐसे जीव को मरने से बचाना या उसकी सहायता करके उसको कष्ट-मुक्त करना, उस जीव को अपने ऊपर चढ़ा हुआ कर्म-ऋण चुकाने से वंचित रखना है। वे कहते हैं—

"साधु तो जीवां ने क्याँ ने बचावे ते तो पच रह्या निज कर्मों जी। कोई साधु री संगत आय करे तो सिखाय देवे जिन धर्मोजी॥"

('अनुकम्पा' ढाल २वीं गाथा ३६)

" जो बकरा रो जीवणो वांछे नहीं लिगार।
तिण ऊपर दृष्टान्त ते सांभलजो सुखकार।
साहुकार रे दोय सुत एक कपूत अवधार।
ऋण करडी जागां तणू माथे करे अपार॥

दूजो सुत जग दीपतो, यश संसार मझार ।
करडी जागाँ रो करज उतारे तिण बार ॥
कहो केहने बरजे पिता दोय पुत्र में देख ।
वर्जे कर्ज करे तसु के ऋण मेटते पेख ॥

समझ नर विरला ।

कर्ज माथे सुत अधिक करतो बार बार पिता बरजतो रे ।
करडी जागां रा माथे कांय कीजे प्रत्यक्ष दुख पामीजे रे ॥
अधिक माथा रो कर्ज उतारे जनक तास नहीं वारे रे ।
पिता समान साधु पिछाणो रजपूत बकरो बे सुत मानो रे ॥
कर्मरूप ऋण माथ कुण करतो आगला कर्म कुण अपहरतो रे ।
कर्मऋण रजपूत माथे करे थे बकरा संचित कर्म भोगवे छे रे ॥
साधु रजपूत ने वर्जे सुहाय कर्म करज करे कांय रे ।
कर्म बंध्यां घणा गोता खासी परभव में दुःख पासी रे ॥

सरवर पणे तिण ने समझायो ।
तिण रो तिरणो वंछ्यो मुनिरायो रे ।
बकरा जिवावण नहीं दे उपदेश
रूडी ओलख बुद्धिवन्त रेसरे ॥"

('भिक्षुयश रसायन')

अर्थात्—साधु जीवों को क्यों बचावें ? जो जीव दुःख पा रहे हैं, वे अपने कर्म से दुःख पा रहे हैं, इसलिए साधु उन्हें क्यों बचावें ? हाँ यदि कोई आकर साधु की संगति करे, तो उसको जैन-धर्म अवश्य सिखा देवेंगे।

मारे जाते हुए बकरे का जीवित रहना क्यों नहीं इच्छा जाता (यानी मरते हुए जीव को क्यों नहीं बचाया जाता)। इस पर एक दृष्टान्त सुनिये ! साहूकार के दो लड़के हैं, जिनमें से एक कपूत है, जो अपने सिर पर बहुत कठिन और अपार ऋण कर रहा है। लेकिन दूसरा लड़का संसार में सुप्रसिद्ध एवं यशस्वी है, जो कठिन ऋण चुका रहा है। अब बाप दोनों पुत्रों को देखकर किसको वर्जेगा, किसे हटकेगा और रोकेगा ? जो कर्ज कर रहा है उसको हटकेगा या जो कर्ज चुका रहा है उसको ? जो लड़का अपने सिर पर अधिक ऋण कर रहा है, बाप उसको बार बार वर्जेगा और कहेगा कि इतना कठिन ऋण क्यों कर रहा है ? इस कर्ज करने का दुष्परिणाम प्रत्यक्ष ही भोगना होगा। जो लड़का अपने सिर पर का कर्ज उतार रहा है, बाप उसको नहीं वर्जेगा, उसकी तो प्रशंसा ही करेगा।

इस दृष्टान्त के अनुसार साधु, बाप के समान है और बकरा (मारा जाने वाला) तथा राजपूत (बकरे को मारने वाला) दोनों साधु-रूपी पिता के दो पुत्र हैं। इन दोनों

पुत्र में से कौन तो अपने सिर पर कर्म-रूपी ऋण चढ़ा रहा है, और कौन अपने पूर्व संचित कर्म-रूपी ऋण को चुका रहा है। यह देखो ! राजपूत (बकरे को मारने वाला) बकरे को मारकर अपने सिर पर कर्म ऋण और चढ़ा रहा है, लेकिन बकरा, राजपुत के हाथ से मर कर अपने पूर्व संचित कर्म भोगन रूप अपने सिर पर का ऋण चुका रहा है। इसलिए साधु रूपी पिता, राजपूत (बकरा मारने वाले) रूप पुत्र को ही बर्जेगे कि अपने सिर पर कर्म-रूपी कर्ज क्यों करता है ? कर्म-रूपी कर्ज करने से तुझे बहुत चक्कर खाने पड़ेंगे और परभव में दुःख पाना होगा। इस तरह राजपुत-रूपी पुत्र को मुनिराज ने भली प्रकार समझाया और उसका तिरना चाहा, परन्तु बकरे को जीवित रखने के लिए मुनिराज उपदेश नहीं देते। क्योंकि वह तो मरकर अपने पर का कर्म-ऋण चुका रहा है। उसको कर्म-रूपी ऋण चुकाने से मुनिराज-रूपी पिता क्यों रोके ? हे बुद्धिमानों ! इस रहस्य को अच्छी तरह समझो।

यह है तेरह-पन्थियों का सिद्धान्त। थोड़ी समझ वाले लोगों में यह सिद्धान्त भरने और उनसे अपना यह सिद्धान्त स्वीकार कराने के लिए तेरह-पन्थी लोग उन लोगों के सामने चित्र रखते हैं, अथवा कंकर रखकर समझाते हैं, कि देखो, यह बाप है और ये दो पुत्र हैं। एक पुत्र अपने सिर पर कर्ज कर रहा है और

दूसरा पुत्र अपने सिर पर का कर्ज उतार रहा है। बाप किसको रोकेगा? कर्ज करने वाले को रोकेगा, या कर्ज उतारने वाले को रोकेगा? बेचारे भोले लोग कह देते हैं कि कर्ज करनेवाले को ही बाप रोकेगा, लेकिन जो कर्ज उतार रहा है, उसके काम में बाप हस्तक्षेप क्यों करेगा? तब तेरह पन्थी कहते हैं कि इसी तरह इस चित्र में साधु हैं, जो सब जीवों के बाप की तरह हैं। छः काय के जीवों के प्रति-पालक हैं और उनके सामने यह कसाई और यह बैल है। ये दोनों ही साधु मुनिराज के पुत्र हैं। कसाई रूपी पुत्र बैल रूपी पुत्र को मारकर अपने पर कर्म-रूप ऋण चढा रहा है. लेकिन बैल रूपी पुत्र मरकर अपने पर का कर्म–ऋण उतार रहा है। ऐसी दशा में साधु बैल रूपी पुत्र को कर्म रूपी ऋण चुकाने से कैसे रोक सकते हैं? यानी मरने से कैसे बचा सकते हैं? यदि कर्म–ऋण चुकाते हुए पुत्र को भी साधु रूपी पिता रोकते हैं तो पिता होकर भी उसका अहित करते हैं। इसी से हम कहते हैं, कि किसी मरते हुए जीव को बचाना, या दुःख पाते हुए जीव को दुःख मुक्त करना पाप है। क्योंकि ऐसा करने से वह अपने सिर पर का कर्म–ऋण चुकाने से वंचित रह जाता है।

साधारण बुद्धिवाला आदमी तेरह–पन्थी साधुओं की इस कुयुक्ति को पहले तो ठीक मान बैठता है। वह क्या जाने कि ये

लोग हमको उल्टा समझा रहे हैं। उसको मालूम नहीं है कि जो जीव कसाई द्वारा मारा जा रहा है, वह जीव भी महा कठिन कर्म बांध रहा है किन्तु "पूर्व संचित कर्म चुका नहीं रहा है"। इस अजानकारी के कारण वे लोग तेरह-पन्थियों की बात को ठीक मानकर, मरते हुए जीव को बचाने, दीन दुःखी की सहायता करने आदि समस्त परोपकार के कार्यों को पाप मानने लगते हैं और सोचते हैं कि जो मर रहा है या दुःख पा रहा है, वह अपने कर्म भोग रहा है। हम उसको कर्म भोगने से क्यों रोकें?

तेरह-पन्थियों की इस कुयुक्ति पर हम सत्य का प्रकाश डालकर बताते हैं, कि तेरह-पन्थी साधुओं का यह कथन कितना झूठ, कितना धोखे में डालने वाला और कितना शास्त्र-विरुद्ध है तथा, यदि इसी सिद्धान्त का व्यवहार उन्हीं के साथ किया जावे तो उनको बुरा तो न मालूम होगा? वे काठियावाड़ या पंजाब आदि से जल्दी ही तो न लौट जावेंगे?

सब से पहले यह देखना है कि क्या अज्ञान-पूर्वक कष्ट सहने या मरने से भी कर्म की सकाम निर्जरा होती है? क्या चिल्लाते रुदन करते तथा हाय वाय करते और दुःख करते हुए मरने अथवा कष्ट सहने से कर्म ऋण चुकता है? इन प्रश्नों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर मालूम होगा कि ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार के मरण या कष्ट सहने से कर्म

का ऋण चुकाता हो, तो फिर संयम का पालन और पण्डित-मरण व्यर्थ हो जावेंगे। फिर संयम लेने या पण्डित मरण से मरने की कोई आवश्यकता ही न रहेगी और धर्म ध्यान तथा शुक्लध्यान भी निरर्थक सिद्ध होंगे।

श्रावक धर्म को जानने वाला है जिसके लिए सूत्र में बहुत ही विशेषण आये हैं। वह जानता है कि आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान करने से कर्म का बन्ध होता है। इसलिए किसी भी समय आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान न आने देना चाहिए, चाहे कितने भी कष्ट क्यों न हों, अथवा कोई मार ही क्यों न डाले। इस बात को जानते हुए भी ऐसे कितने श्रावक निकलेंगे, जो जान से मारे जाने या बहुत दिनों तक भूखे प्यासे रहने, अथवा चिरकालीन रोग ग्रस्त रहने की बात तो दूर रही, किसी के द्वारा एक थप्पड़ मार दिये जाने पर अथवा गाली दी जाने पर, अथवा समय पर भोजन-पानी न मिलने से या थोड़ा सिर या पेट दुखने से आर्त्त, रौद्र ध्यान या क्रोधादि न करते हों। जब सम्यक्त्व धारी देश-विरती श्रावकों को भी थोड़े ही से कष्ट में आर्त्त रौद्र ध्यान व क्रोधादि कषाय हो सकते हैं, तो जो लोग धर्म को बिलकुल ही नहीं जानते, उन्हें उस समय कैसा भीषण आर्त रौद्र ध्यान होता होगा, जब कि वे किसी के द्वारा जान से मारे जाने लगते होंगे अथवा अन्न पानी न मिलने से क्षुधा तृषा का कष्ट पाते होंगे

और किसी रोग द्वारा पीड़ित होते होंगे । किसी हिंसक या कसाई द्वारा किसी मारे जाते हुए जीव को देखो कि वह कैसा दु:ख पाता है, और किस प्रकार तड़फड़ाता एवं चिल्लाता हुआ मरता है ।

जैन शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि जो आर्त्त रौद्र ध्यान करता हुआ मरता है, वह हल्के कर्म को भारी करता है, मन्द रस वाले कर्म को तीव्र रस वाले करता है और अल्प स्थिति के कर्मों को महास्थिति के बनाता है। यथा श्री ज्ञाता सूत्र तथा उपासक दशांग सूत्र में श्रावक का वर्णन है । वहां बताया है कि देवता जिन श्रावकों को डिगाने आया, वहां ऐसा बोला है कि जो तू धर्म नहीं छोडेगा तो मैं तुझे अमुक २ कष्ट दूंगा । उस कष्ट और पीडा के कारण आर्त्त रौद्र ध्यान ध्याता हुआ अकाल में जीवित रहित हो जावेगा, तब तेरा धर्म कहां रहेगा । इस प्रकार परवश मरनेवाला आर्त रौद्र ध्यान वश बहुत कर्म बांध लेता है ।

कर्जा तो श्री गजसुकुमालजी सरीखे महापुरुष जिन्होंने सम्यक् प्रकार कष्ट को सहन किया वही चुकाते हैं सब जीव नहीं चुकाते । वे तो अधिक कर्जा कर लेते हैं, शास्त्र ने तो ऐसा कहा है । और तेरह पन्थी कहते हैं कि राजपूत द्वारा मारा जाता हुआ बकरा अपने सिर पर का कर्म रूपी ऋण चुकाता है । ह

तेरह-पन्थी साधुओं से ही पूछते हैं कि जो जीव धर्म को नहीं जानते, वे जब किसी के द्वारा मारे जाने लगेंगे, तब उनमें आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान होगा, या धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान होगा? यदि धर्म न जानने पर भी बकरे को धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान हो सकता है, तब तो धर्म की जरूरत ही क्या रही क्योंकि धर्म का उद्देश्य आत्मा में धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान लाना है। ये दोनों ध्यान यदि धर्म न जानने वाले पशु को भी हो सकते हैं। तो फिर धर्म की जरूरत ही क्या रही? और यदि धर्म न जानने वाले बकरे को राजपूत द्वारा मारे जाने के समय धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान नहीं हुआ, किन्तु आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान हुआ, तो आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान से महान कर्म का बंध होता है या नहीं? और यदि महान् कर्म का बन्ध होता है, तो आपका यह कथन कि "बकरा अपने सिर पर का कर्म ऋण चुकाता है" झूठ और शास्त्र-विरुद्ध रहा या नहीं।

अब हम दूसरी दलील देते हैं। जैसा कि बताया जा चुका है, तेरह-पन्थ का सिद्धान्त है कि "मारने वाला अपने सिर पर कर्म ऋण करता है, इसलिए साधु लोग उसको उपदेश देकर कर्म ऋण करने से रोकते हैं, परन्तु जो मारा जा रहा है, वह अपने सिर पर का कर्म ऋण चुकाता है। इसलिए साधुरूपी पिता उस कर्म ऋण चुकाने वाले को कर्म ऋण चुकाने से नहीं रोकते, यानी

मरने से नहीं बचाते।" इस पर से प्रश्न किया जाता है कि साधु ने मारनेवाले को कर्म ऋण न करने के लिए जो उपदेश दिया, वह उपदेश सफल होने पर मारने वाला, जिसको मार रहा था, उसका कर्म ऋण चुकाना रुक गया या नहीं ? उसके कर्म ऋण चुकाने में अन्तराय पड़ गई और वह अन्तराय साधु ने डाली इसलिए साधु को अन्तराय डालने का पाप हुआ या नहीं ? भविष्य में जो अन्तराय पड़ती है, उसका पाप उपदेश देने वाले को न लगना तो आप कहते हैं, लेकिन बकरे के लिए तो आपने वर्तमान में ही अंतराय डाली है और वर्तमान में अन्तराय डालना आप भी पाप मानते हैं। देखिए, भ्रम विध्वंसन पृष्ठ ५० दानाधिकार में उपदेश के कारण दूसरे को होने वाली अन्तराय के भविष्य में यह बताते हुए कि भूतकालीन और भविष्यकालीन अन्तराय से साधु को दोष नहीं आता है, आपके आचार्य कहते हैं कि—

"अन्तराय तो वर्तमान–काल में इज कही छे, पिण और वेलां कही नहीं"।

इसके अनुसार आपके सिद्धान्तानुसार मारने वाले को भी उपदेश देना पाप हुआ या नहीं ? एवं मरने वाले को आपने अन्तराय दी या नहीं ? यह पाप क्यों करते हैं ?

कदाचित् यह कहो कि यह बात तो दान में अन्तराय डालने विषयक है। तो हम पूछते हैं कि दान लेने वाला तो अपने पर ऋण कर रहा था और बकरा ऋण चुका रहा था। जब ऋण करने वाले को अन्तराय देना भी पाप है, तब क्या ऋण चुकाने वाले को अन्तराय देना धर्म होगा ? अगर पाप नहीं मानते तो धर्म तो कहिये।

कदाचित् यह कहो कि हमारा भाव कर्म ऋण चुकाते हुए को अन्तराय देने का नहीं था, इसलिए हमको अन्तराय का पाप नहीं लग सकता, तो आपका यह उत्तर सुनकर तो हमको बहुत प्रसन्नता होगी। क्योंकि जब भाव न होने से आपको अन्तराय का पाप नहीं लग सकता, तब भाव न होने के कारण किसी मरते हुए प्राणी की रक्षा करने में वह पाप भी नहीं लग सकता, जो बचाये गए प्राणी द्वारा भविष्य में होंगे, बचाने वाले को जिनका लगना बताकर, जीव बचाने को आप पाप कहते हैं।

तीसरी दलील सुनिये ! मान लीजिये कि एक साधु को एक मास की तपस्या है। साधु को धर्म का ज्ञान है और ये सब भाव पूर्वक कष्ट सहन करके कर्म की निर्जरा करने के लिए ही साधु हुए हैं। उनको जब तक आहार नहीं मिलता है, तब तक उनके कर्म की महा निर्जरा होती है। क्योंकि आहार न मिलने पर भी साधु लोग आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान तो करेंगे ही नहीं।

वे तो क्षुधा के कष्ट को समता पूर्वक ही सहेंगे और समता पूर्वक कष्ट सहने से कर्म की महा निर्जरा होती है, यह बात जैन शास्त्र भी कहते हैं और आप भी मानते हैं। साथ ही आप यह भी कहते हैं कि कर्म ऋण चुकाते हुए को अन्तराय देना पाप है। जैसा कि आपने बकरे और राजपूत का उदाहरण दिया है।

आपके सिद्धान्त को मानने वाला यदि कोई आदमी सोचे कि आहार मिलने से मुनि के कर्म की निर्जरा होती हुई रुक जावेगी। ऐसा सोचकर वह स्वयं भी मुनि को पारणे के लिए आहार न दे, तथा औरों से भी कहे कि मुनि के कर्म की होती हुई निर्जरा मत रोको, तो उसका यह कार्य अनुचित तो न होगा? इसके सिवा जो लोग मुनि को आहार देकर उनको कर्म ऋण चुकाने से रोक देते हैं, उनको पाप तो न होगा? जिस तरह आपके उदाहरण में साधु, बकरे और राजपूत दोनों का बाप है, उसी तरह शास्त्रानुसार श्रावक भी साधु के बाप हैं। जिस तरह साधु, बकरे को कर्म ऋण चुकाने से नहीं रोकते, उसी प्रकार श्रावक को भी यही उचित है कि कर्म ऋण चुकाते हुए कर्म की निर्जरा करते हुए— साधु को वह न रोके। ऐसा होते हुए भी यदि कोई श्रावक साधु को आहार देकर उन्हें कर्म ऋण चुकाने से रोकते हैं, तो उनको भी वैसा ही पाप हुआ या नहीं, जैसा पाप कर्म ऋण चुकाते हुए बकरे को बचाने से हो सकता है? बल्कि आपके दृष्टान्त

में साधु अपने मन से ही बकरे का बाप बना है, और अपने मन से ही यह भी कहता है कि बकरा मरकर कर्म ऋण चुका रहा है।

इन दोनों बातों को शास्त्रीय समर्थन भी प्राप्त नहीं है, तथा ऊपर यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि मरता हुआ बकरा, कर्म बांधता है, किन्तु चुकाता नहीं है, । लेकिन श्रावक, साधु के बाप तुल्य है और आहार न मिलने पर साधु के कर्म की महा निर्जरा होती है, इन दोनों ही बातों को शास्त्रीय समर्थन भी प्राप्त है ।

आप ही से पूछते हैं, कि शास्त्र में श्रावक को साधु का माता पिता कहा है या नहीं ? और आहार न मिलने पर साधु को समाधि पूर्वक कर्म की निर्जरा करना कहा है या नहीं ? इसलिए जो श्रावक, साधू को आहार-पानी देता है और कर्म ऋण चुकाते हुए साधू को कर्म ऋण चुकाने से रोकता है वह तेरह पन्थ के सिद्धान्तानुसार पापी हुआ या नहीं ? और तेरह-पन्थी लोग जिसकी महान महिमा गाते हैं, वह सुपात्र दान उन्हीं के सिद्धान्त से पाप ठहरता है या नहीं ? यदि साधु को आहार-पानी देना धर्म है, तो मरते हुए जीव को बचाना अथवा कष्ट पाते हुए जीव की सहायता करना पाप क्यों होगा ?

इस सम्बन्ध में और भी बहुतसी युक्तियां दी जा सकती हैं, लेकिन इतनी ही युक्तियों से तेरह-पन्थ का यह सिद्धान्त गलत और असंगत ठहरता है, कि 'मरते हुए की रक्षा करने या दीन

दुखी की सहायता करने से उनका चुकता हुआ कर्म ऋण चुकना रुक जाता है, इसलिए मारे जाते हुए जीव को बचाना अथवा दुखी की सहायता करना पाप है। यदि सचमुच ही वे अपने इस सिद्धान्त को ठीक मानते हैं, तो—

(१) आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान से कर्म की निर्जरा होना मानना चाहिये।

(२) जो किसी जीव को मार रहा है, उसको भी हिंसा न करने का उपदेश न देना चाहिये।

(३) जिसको वे कुपात्र दान कहते हैं, वह सुपात्र दान भी पाप मानना चाहिये।

यदि तेरह—पन्थी लोग ऐसा नहीं करते हैं, तो उनका सिद्धान्त केवल लोगों को धोखे में डालने के लिए है, और झूठा है। जिस सिद्धान्त को वे स्वयं भी व्यवहार में नहीं ला सकते, उस सिद्धान्त का प्रचार केवल दया और दान को उठाने, एवं दान दया को पाप बताने के लिए लोगों में करना, यह तो दया दान से द्वेष रखना ही है।

श्रावक कुपात्र नहीं है

तेरह-पन्थी लोग कहते हैं, कि साधु के सिवा संसार के सभी प्राणी कुपात्र है और मरते हुए कुपात्र को बचाना, कुपात्र को दान देकर उसे कष्ट मुक्त करना तथा कुपात्र की सेवा-सुश्रुषा करना पाप है। जैसा कि वे कहते हैं—

छः कायरा शस्त्र जीव अव्रती त्यांरो जीवणो मरणो न चावेजी। त्यांरो जीवणो मरणो साधु चावे तो रागद्वेष वेहूं आवेजी ॥ छः कायरा शस्त्र जीव अव्रती त्यांरो असंयम जीवितव्य जाणोजी। सर्व सावद्य रा त्याग किया त्यांरो संयम जीवितव्य एह पिछाणोजी।

('अनुकम्पा' ढाल ९वीं)

अर्थात—अव्रती जीव छः काय के जीवों के शस्त्र (घातक) हैं इसलिए उनको जीना या मरना, न इच्छना चाहिये। यदि

कोई साधु* उनका जीना मरना इच्छता है, तो उसको राग और द्वेष दोनों ही लगते हैं। अज्ञानी जीव छःकायिक जीवों के शस्त्र हैं, इसलिए उनका जीवन असंयम पूर्ण है। सर्व सावद्य का त्याग जिन्होंने किया है, उन्हीं का जीवन संयम पूर्ण है।

और भी कहते हैं कि—

असंयम जीवितव्य ने बाल मरण यां री आशा वांछा नहीं करणी जी। पंडित मरण ने संयम जीवितव्य नी आशा वांछा मन धरणी जी।

('अनुकम्पा' ढाल ९ वीं)

कर्मा करने जीवड़ा, उपजे ने मर जाय।
असंयम जीतब तेहनो, साधु न करे उपाय।

('अनुकम्पा' ढाल ३री)

असंयति जीवां रो जीवणो ते सावद्य जीतब साक्षात् जी। तिण ने देवे तो सावद्य दान छे तिण मे धर्म नहीं अंश मातजी॥

('अनुकम्पा' ढाल १२वीं)

---

* साधु और गृहस्थ का आचरण, दोनों की रीति और दोनों की अनुकम्पा एक ही है, ऐसा तेरह पन्थी मानते हैं जो पहले बताया जा चुका है।

छः काय रो शस्त्र जीव अव्रती, साता पूछे ने साता पजावे। त्यांरी करे वियावच्च विविध प्रकारे तिण ने र्थिंकर देव तो नहीं सरावे ॥

('अनुकम्पा' ढाल ११ वीं)

अर्थात—असंयम जीवन और बाल मरण की आशा, कामना न करनी चाहिये, किन्तु पण्डित मरण और संयम जीवन की ही आशा (इच्छा) मन में रखनी चाहिये। जीव कर्म के कारण मरते जीते हैं। उनका जीवन असंयम पूर्ण है, इसलिए साधु उनकी रक्षा का उपाय नहीं करते। असंयति जीवों का जीवित रहना साक्षात पाप पूर्ण जीवन है। इसलिए उनको दिया गया दान सावद्य (पाप) दान है, उसमें अंश-मात्र भी धर्म नहीं है। अव्रती जीव छः काय का शस्त्र है। उनकी शान्ति पूछना, अथवा उनको शान्ति देना अथवा अनेक प्रकार से उनकी सेवा करना आदि कामों की (पाप है इसलिए) तीर्थंकर देव सराहना नहीं करते हैं।

इन सब सिद्धान्त वाक्यों का स्पष्टीकरण करते हुए तेरह-पन्थी लोग 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८२ में कहते हैं—

छव काय ना शस्त्र ते कुपात्र छै। तेहने पोष्यां धर्म पुण्य किम निपजे। डाह्या हुए तो विचारि जोइ जो॥

इस बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए 'भ्रम विध्वंसन' पृष्ठ ७९ में कहा गया है—

ते साधु थी अनेरा तो कुपात्र छे ।

अर्थात—साधु के सिवाय सब लोग कुपात्र हैं ।

इस प्रकार असंयमी अव्रती को तेरह—पन्थी लोग कुपात्र कहते हैं । व्रतधारी श्रावक का समावेश भी कुपात्र में ही करते हैं जैसा कि वे कहते हैं—

वेषधारी श्रावक ने सुपात्र थापे तिण ने नित्य जिमां या कहे मोक्ष रो धर्मो । उण ने सूत्र शस्त्र ज्यूं परणमिया हिंसा दढाय बांधे मूढ कर्मों ॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वीं)

अर्थात—वेषधारी, (तेरह—पन्थी साधु के सिवाय दूसरे सभी साधु) श्रावक को सुपात्र बताकर कहते हैं कि श्रावक को नित्य भोजन कराना, मोक्ष का धर्म है । ऐसा कहने वालों के लिए सूत्र भी शस्त्र की भांति परगमे हैं, और वे मूढ हिंसा की स्थापना करके कर्म बांधते हैं ।

संक्षेप में वे लोग अपने सिवाय और सभी लोगों को छः काय के शस्त्र, असंयमी. अव्रती और कुपात्र कहते हैं ; यह बात उनसे प्रश्न करके भी जानी जा सकती है । यदि वे कहें, कि और लोग अथवा श्रावक कुपात्र छः काय के शस्त्र असंयमी अव्रती

ही हैं, तो हमको उनका यह उत्तर सुनकर प्रसन्नता ही होगी। न्तु ये स्पष्टतया ऐसा कदापि नहीं कह सकते, किसी को रखे में चाहे भले ही डालें।

इस प्रकार साधु के सिवाय शेष सभी जीवों को, तेरह-पन्थी धु छः काय के शस्त्र, असंयमी अव्रती और कुपात्र बताकर पना सिद्धान्त वाक्य सुनाते हैं—

छः काय रो शस्त्र बचावियाँ, छः काया नो वैरी होय े। त्याँ रो जीवितव्य पिण सावद्य कह्यो, त्याँ ने चाया धर्म न होय जी। असंयती रा जीवणा मध्ये धर्म हीं अंश मातजी। वले दान देवे छे तेहने ते पण सावद्य ाक्षात् जी॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वीं)

अर्थात्—जो छः काय के शस्त्र को बचाता है, वह छः काय ा वैरी होता है। जिन छः काय के शस्त्र का जीवन पाप पूर्ण हा गया है, उन छः काय के शस्त्र को बचाने से धर्म नहीं होता। संयति के जीवन में अंश-मात्र भी धर्म नहीं है और उनको जो ान दिया जाता है, वह भी पाप पूर्ण है।

इसी बात को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए 'भ्रम- वध्वंसन पृष्ठ १२१ में कहा गया है—

जिम कोई कसाई पांच सौ पांच सौ पंचेन्द्रिय जीव नित्य हणे छे, ते कसाई ने कोई मारतो हुवे तो तिण ने उपदेश देवे । ते तिण ने तारवाने अर्थे पिण कसाई ने जीवतो राखण ने उपदेश न देवे । यो कसाई जीवतो रहे तो आछो, इम कसाई नो जीवणो वांछणो नहीं । केई पंचेन्द्रिय हणे केई एकेन्द्रिय हणे छे । ते माटे असंयति जीव ते हिंसक छे । हिंसक नो जीवणो वांछियां धर्म किम हुवे ?

इस प्रकार तेरह-पन्थी अपने सिवाय सब को वैसा ही हिंसक कहते हैं, जैसा हिंसक नित्य पांच सौ-पांच सौ गाय या बकरे आदि पंचेन्द्रिय जीव मारने वाला कसाई होता है । तथा सब जीवों को, चाहे वह श्रावक हो या तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के सिवाय अन्य किसी सम्प्रदाय का साधु भी हो, नित्य पांच सौ गाय मारने वाले कसाई की तरह हिंसक ठहरा कर कहते हैं कि ऐसे हिंसकों को बचाने, अथवा दान देने या उनकी सेवा सहायता करने में धर्म कैसे हो सकता है ? यह सब तो पाप ही है ।

तेरह-पन्थी साधु एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को समान तथा एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा को समान कहते हैं तथा एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करने वाले को भी उस कसाई

की तरह हिंसक कहते हैं, जो पांच सौ गाय बैल नित्य मारता है। इस विषय में पूर्व के एक प्रकरण में यह बताया जा चुका है, कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव समान नहीं है, दोनों की हिंसा भी समान नहीं है और दोनों की हिंसा का परिणाम भी समान नहीं है। हमने गत प्रकरण में जो कुछ कहा है, उसमें से इस एक बात को हम फिर दोहराते हैं, कि यदि दोनों की हिंसा समान है, तो तेरह पन्थी साधु पंचेन्द्रिय जीव हनने वाले को श्रावक क्यों नहीं बनाते, जब कि असंख्य और अनन्त एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने वाले व्यक्ति को वे अपना श्रावक बना लेते हैं? इसके सिवा शास्त्र में यह तो कहा है कि पंचेन्द्रिय वध नरक का कारण है, परन्तु क्या कहीं ऐसा भी कहा है कि एकेन्द्रिय का वध करने वाला श्रावक भी नरक में जाता है? शास्त्र का वह पाठ यहां लिखते हैं।

एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा नेरइताए कम्मं प्प करंति-णेरइत्ताए कम्मं प्पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति-तंजहा महारंभाए महा परिग्गहिया ए, पंचिंदिय वहेणं कुणिमा हारेणं।

('उववाई सूत्र' तथा 'श्री भगवती सूत्र')

भावार्थ—इस प्रकार चार स्थानक से जीव नरक-गति में जाने का कर्म करता है और वह नरक में उपजने के कर्म उपार्जन

जाता । व्यवहार और कोष आदि में भी 'पात्र' और 'अपात्र' ये दो ही शब्द पाये जाते हैं । यानी पात्र है और पात्र नहीं है । कदाचित किसी में दोनों ही बातें रही हुई हों तो विशेष परिस्थिति के लिए एक तीसरा शब्द 'पात्रापात्र' और भी बन सकता है, परन्तु यह शब्द पात्र और अपात्र इन दोनों शब्द के मिश्रण से ही बना है, इनसे भिन्न नहीं है । हां, आचार्यों ने कहीं सुपात्र के तीन भेद किये हैं । यथा जघन्य सुपात्र सम्यक् दृष्टि, मध्यम सुपात्र श्रावक, उत्कृष्ट सुपात्र साधु और अपात्र रोगी, दुखी, मंगन, भिखारी तथा कुपात्र—हिंसक, चोर, , वेश्या ऐसी कहीं कहीं व्याख्या है । साधु-श्रावक को तो गुण-रत्नों का पात्र ही कहा है ।

ऐसी दशा में अपने लिए सुपात्र और दूसरे के लिए कुपात्र शब्द लाये कहां से ? केवल अपनी बड़ाई और दूसरों की तुच्छता बताने के लिए ही कुपात्र और सुपात्र शब्द की सृष्टि की है, या अपना स्वार्थ साधने के लिए तथा इन नामों से लोगों को धोखे में डालने के लिए ही इन शब्दों की कल्पना कीगई है, या और किसी उद्देश्य से ? साधु कहलाकर भी इस तरह के कल्पित शब्दों द्वारा लोगों को धोखे में डालना क्या उचित है ? परन्तु तेरह-पन्थी साधुओं ने यदि औचित्य को अपने में रहने दिया होता, तो जैन शास्त्र और भगवान महावीर के नाम से वे दया तथा दान को पाप ही क्यों कहते ?

'सु' और 'कु' (पात्रों के) विशेषण हैं। विशेषणों का उपयोग विशेष समय पर ही किया जा सकता है, सदा के लिए नहीं, लेकिन तेरह-पन्थियों ने मूल शब्द 'पात्र' और 'अपात्र' का तो कहीं उपयोग ही नहीं किया है।

पात्र का अर्थ है बर्तन-भाजन। वस्तु रखने के लिए जो उपयुक्त होता है, वह उस वस्तु के लिए पात्र है, और जो उपयुक्त नहीं है, वह अपात्र है। परन्तु जो एक कार्य के लिए पात्र है, वही दूसरे कार्य के लिए अपात्र भी हो जाता है, और जो एक कार्य के लिए अपात्र है, वह दूसरे कार्य के लिए पात्र भी हो जाता है। उदाहरण के लिए कोई लड़का उद्दण्ड, अविनीत चोर और विद्याध्ययन में चित्त न लगाने वाला है, तो वह लड़का विद्या पढ़ाने के लिए तो अपात्र है परन्तु लड़ाई झगड़े और बदमाशी आदि के लिए पात्र हो जाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति पढ़ा लिखा तो है, साहसी भी है, परन्तु कद में ५ फीट ६ इञ्च से कम है और छाती ३० इञ्च है, तो वह व्यक्ति फौज में भर्ती होने के लिए तो अपात्र है, लेकिन क्लर्की के लिए अपात्र नहीं है, किन्तु पात्र है इन उदाहरणों को और आगे बढ़ा लीजिए।

'सु' और 'कु' विशेषण पात्र के लिए ही लग सकते हैं। जो जिस कार्य का पात्रही नहीं है उसके लिए 'कु' और 'सु' विशेषण भी नहीं लगते। जो जिस वस्तु का पात्र है, उसमें रखी गई वस्तु

यदि आशा से अधिक समय तक सुरक्षित रहती है, यदि आशा से अधिक गुण देने वाली हो जाती है, तब उस पात्र की प्रशंसा में 'सु' विशेषण लगाकर उसे सुपात्र कहा जाता है। इसी प्रकार जिसमें रखी हुई वस्तु आशा से बहुत कम समय में ही खराब हो जाती है, अथवा आशा तो यह थी कि इस पात्र में वस्तु के गुणों में वृद्धि होगी लेकिन इस आशा के विरुद्ध वस्तु विपरीत गुणकारी अथवा गुणहीन बन जाती है, तब उस पात्र की निन्दा करने के लिए 'कु' विशेषण लगाकर उसे कुपात्र कहा जाता है।

इस प्रकार 'सु' और 'कु' विशेषण पात्र के लिए ही लगते हैं जो अपात्र है, उसमें रखी हुई वस्तु यदि खराब भी हो जावे, तो उसको कुपात्र न कहा जावेगा, किन्तु अपात्र ही कहा जावेगा। उदाहरण के लिए खटाई के बर्तन में रखा गया दूध यदि खराब हो जावे, तो क्या उस बर्तन को कुपात्र कहा जावेगा? यही कहा जावेगा कि यह बर्तन ही दूध रखने के योग्य न था, दूध के लिए अपात्र था। किसी हींजड़े को फौज में भर्ती करके युद्ध में भेजा जावे, और वहां से वह ताली बजाकर भागे, तो उसको कुपात्र न कहा जावेगा, किन्तु यही कहा जावेगा कि यह फौज के लिए अपात्र ही था। परन्तु जो बर्तन दूध के लिए अपात्र रहा है, वह खटाई के लिए पात्र है। जो हींजड़ा फौज के लिए अपात्र रहा है, वह ताली बजाकर, नाचने गाने के लिए पात्र है। इस प्रकार

पात्र या अपात्र अपेक्षाकृत है, और 'सु' तथा 'कु' विशेपण-पात्र के लिए ही लगते हैं सभी बातों के लिए न तो कोई पात्र है न अपात्र है।

मतलब यह है कि जिसके लिए जो मर्यादा है वह उसका पात्र है, और जिसके लिए जो मर्यादा नहीं है, वह उसका पात्र नहीं है, किन्तु उसके लिए अपात्र है। जो पात्र है, उसके द्वारा जब तक मर्यादा की सीमा का अनुकूल या प्रतिकूल उल्लंघन नहीं होता है, वह मर्यादा भीतर ही है तब तक तो वह पात्रही है। उसको न सुपात्र कहा जावेगा, न कुपात्र ही कहा जावेगा। लेकिन जब वह अनुकूल दिशा में मर्यादा का उल्लंघन करता है यानी आगे बढता है, तब उसे सुपात्र कहा जाता है और प्रतिकूल दिशा में मर्यादा का उल्लंघन करके आगे बढता है, तो कुपात्र कहा जावेगा। जैसे पुत्र और अपुत्र, पुत्र तो आपका लड़का है, लेकिन अपुत्र आपका लड़का नहीं है। जो आपका लड़का ही नहीं है, वह यदि आपको खाने को नहीं देता है, तो आप उसको सुपुत्र न कहेंगे। इसके विरुद्ध जो आपका लड़का है, वह जब तक अपने कर्त्तव्य का साधारण रीति से पालन करता रहेगा, आप उसको पुत्र कहेंगे। जब वह अपने कर्त्तव्य का विशेष रूप से पालन करे, तब आप उसको सुपुत्र कहेंगे और जब वह अपने कर्तव्य की उपेक्षा करेगा, अपने कर्तव्य का

पालन न करेगा, विपरीत व्यवहार करेगा, तब आप उसको कुपात्र कहेंगे ।

मतलब यह है कि पात्र और अपात्र शब्द अपेक्षाकृत हैं और 'कु' तथा 'सु' विशेषण पतन और उत्थान का बोध कराने वाले हैं । कोई भी व्यक्ति सब बातों के लिए न तो पात्र है, न अपात्र और न सुपात्र है, न कुपात्र । ऐसा होते हुए भी तेरह-पन्थियों ने संसार के समस्त जीवों को सुपात्र और कुपात्र इन दो भागों में ही विभक्त कर डाला है तथा यह फतवा दे दिया है कि साधु संयमी संजती (इन्हीं के माने हुए, चाहे उनमें संयम के गुण हों या नहीं, खाली वेष ही हो) के सिवाय सभी लोग कुपात्र हैं । जान पड़ता है कि सब निर्णय इन्हीं के अधीन है, और उनका जो वाक्य निकले, वह उनके अनुयायी-मारवाड़ी सेठों की तरह, सब के लिए 'तहत' हो जावे ।

एक और भी दलील सुनिये ! यदि तेरह-पन्थ की मान्यतानुसार साधु के सिवाय सभी कुपात्र हैं तो ये धर्म का उपदेश किनको देते हैं ? कारण कि पात्र ही वस्तु को धारण कर सकता है । अपात्र वस्तु को धारण नहीं कर सकता । जैसे कि सिंहनी का दूध धारण करने को स्वर्ण कटोरा ही पात्र माना जाता है, दूसरा नहीं । जब अपात्र भी उत्तम पदार्थ को धारण नहीं कर सकता, तब धर्म जैसे सर्वोत्कृष्ट पदार्थ के लिए कुपात्र-जैसे योग्य

बन सकते हैं । श्री वीतराग सर्वज्ञ देव प्रणीत स्याद्वादमय नय निक्षेप आदि सापेक्ष मार्ग को समझने के लिए तो पात्र ही चाहिये । कुपात्रों के हाथ पड़ने से ही स्याद्वादमयी सापेक्ष वाणी का इस प्रकार उल्टा परिणमन हुआ है, क्योंकि तेरह-पन्थ के सिद्धान्तानुसार इनके श्रावक और साधु होने से पहिले इनके बड़े बड़े आचार्य भी कुपात्रों की श्रेणी में ही थे । तब कुपात्र उस वाणी को सम्यक् प्रकार कैसे ग्रहण कर सकते हैं ।

तेरह-पन्थी साधु अपने आपको एकान्त रूप से सभी बातों के लिए सुपात्र कहते हैं, परन्तु उनका यह कथन भी सर्वथा अ[illegible] है । क्या वे अनुकम्पादान, संग्रहदान, अभयदान, कारुण्यदान लज्जादान, गौरवदान, अधर्मदान, करिष्यतिदान और कृतदान के लिए सुपात्र होना तो दूर रहा, पात्र भी हैं ? यदि नहीं तो वे अपने आपको सर्वथा सुपात्र कैसे कहते हैं ? इन दोनों के लि[illegible] तेरह-पन्थी साधु, हमारी दृष्टि में अपात्र और तेरह-पन्थ के सिद्धान्तानुसार कुपात्र हैं या नहीं ? धर्मदान के लिए भी सा[illegible] पात्र अवश्य हैं, किन्तु सभी साधु, वेषधारी धर्मदान के लिए [illegible] सुपात्र नहीं हैं । 'सु' विशेषण यदि लगाया जा सकता है, [illegible] उन थोड़े से साधुओं को ही, जो बड़ी तपस्याएँ करते हैं, त[illegible] आत्मदमन करते हैं । सभी साधु वेषधारियों के लिए 'सु' विशेषण नहीं लगाया जा सकता है, न तपस्वियों के लिए ही सर्व[illegible]

सु' विशेषण लगाया जा सकता है, तथा यह पात्रता या कुपात्रता अदान की अपेक्षा से ही है, और किसी अपेक्षा से नहीं। अन्य दानादि कार्य के लिए तो साधु 'अपात्र' है और तेरह पन्थियों के यहां तो सिर्फ सुपात्र तथा कुपात्र, ये दो भेद ही हैं, इसलिए इनके सिद्धान्तानुसार ये कुपात्र हैं।

अब हम दूसरी तरह से यह बताते हैं कि यदि श्रावक पात्र है, तो श्रावक को कुपात्र कहने वाले भी कुपात्र ही हैं। यह बात दूसरी है कि श्रावक में कुपात्रता ज्यादा निकले, और साधु में कम निकले, परन्तु श्रावक को कुपात्र कहने वाले भी पात्र कभी नहीं हो सकते।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच आश्रव हैं। इन पांचों आश्रवों को हम संख्या में १२३४५ मान लेते हैं। यह पन्थी लोग आश्रव की अपेक्षा से ही श्रावक को कुपात्र कहते हैं, यह बात उनके कथन द्वारा ऊपर सिद्ध की जा चुकी है। मिथ्यात्व को तो साधु ने भी छोड़ दिया है और श्रावक ने भी छोड़ दिया है बाकी २३४५ संख्या रही। इनमें से अव्रत नाम के आश्रव को साधु ने सर्वथा बंद कर दिया है और श्रावक ने आंशिक बन्द किया है। इस प्रकार २३४५ संख्या में से साधुओं ने २ का अंक सर्वथा उड़ा दिया है, और श्रावक ने उन दो के अंक को तोड़कर एक कर दिया है। शेष में साधु और

श्रावक बराबर हैं यदि दोनों द्वारा तोड़े गये आश्रव की संख्या घटाकर आधी करदी जावे, तो श्रावक के जिम्मे आश्रव का अंक १३४५ रहता है और साधुओं के जिम्मे ३४५ रहता है। अब विचार करने की बात है कि जिसको १३४५ रुपया देना है वह यदि कर्जदार कहा जावेगा, तो क्या जिसे ३४५) रुपया देना है, वह कर्जदार न कहा जावेगा ? क्या उसको कर्ज-रहित कहा जावेगा ? कर्जदार तो दोनों ही हैं, कोई कम कर्जदार है, कोई ज्यादा।

इसलिए इस प्रकार आश्रव की अपेक्षा से ही श्रावक को कुपात्र कहा जाता है, तो साधु भी कुपात्र ही है। यदि कहा जावे कि श्रावक की अपेक्षा साधु पर आश्रव का ऋण बहुत कम है, इसलिए साधु सुपात्र तथा श्रावक कुपात्र है, तो श्रावक इसका जवाब यह देंगे कि मिथ्यात्वी की अपेक्षा श्रावक पर आश्रव का ऋण बहुत कम है, इसलिए मिथ्यात्वी कुपात्र और श्रावक सुपात्र है। श्रावक की अपेक्षा साधु पर आश्रव का ऋण कम है, इसलिए साधु सुपात्र और श्रावक कुपात्र है। साधु की अपेक्षा केवली में आश्रव का ऋण बहुत कम है, इसलिए केवली सुपात्र और साधु कुपात्र है। बल्कि साधु के श्रावक तो केवल ६ २७/६४ गुना अधिक कुपात्र है, परन्तु केवली से साधु ६० गुना अधिक कुपात्र है, और १४ वें गुण स्थान पर पहुँचे हुए तो योग को रूँध चुके

वली मिथ्यात्वी ने भली करणी रे लेखे सुव्रती कह्यो छै। ते पाठ लिखिये छै।

ऐसा कहकर उत्तराध्ययन सूत्र के ७ वें अध्ययन की २० वीं गाथा उद्धृत करते हुए लिखते हैं—

अथ इहाँ इम कह्यो। जे पुरुष गृहस्थ पणे प्रकृति भद्र परिणाम, क्षमादि गुण सहित एहवा गुणा ने सुव्रती कह्या। परं १२ व्रतधारी नथी। ते जाव मनुष्य मरी मनुष्य में उपजे। ए तो मिथ्यात्वी अनेक भला गुणां सहित ने सुव्रती कह्यो। ते करणी भली आज्ञा मां न्हीं छै। अने जे क्षमादि गुण आज्ञा में नहीं हुवे तो सुव्रती क्यूँ कह्यो। ते क्षमादिक गुणां री करणी अशुद्ध होवे तो कुव्रती कहता। ए तो साम्प्रत भली करणी आश्रयी मिथ्यात्वी ने सुव्रती कह्यो छै। अने जो सम्यक् दृष्टि हुए तो मरी ने मनुष्य हुए नहीं। अने इहाँ कह्यो ते मनुष्य मरी मनुष्य में उपजे ते न्याये प्रथम गुण ठाणे छै। तेह ने सुव्रती कह्यो। ते निर्जरा री शुद्ध करणी आश्रयी कह्यो छै।

इस कथन द्वारा वे कहते हैं कि क्षमादि गुणों के कारण से मिथ्यात्वी सुव्रती है, और अपने इस कथन की पुष्टि में उत्तरा—

ध्ययन सूत्र का पाठ भी देते हैं। मिथ्यात्वी के पांचों आश्रव खुले हुए हैं। उसने कोई व्रत या प्रत्याख्यान नहीं लिया है और जो शुभ करणी करता है, वह भी मिथ्यात्व के साथ करता है, सम्यक्त्व पूर्वक नहीं करता है। ऐसा होते हुए भी जब वह सुव्रती है, तो जिसने मिथ्यात्व और आंशिक अव्रत इन दो आश्रवों को बन्द कर दिया है, वह श्रावक क्या सुव्रती न होगा?

इस प्रकार श्रावक भी आंशिक सुव्रती है, और साधु भी सुव्रती है। ऐसी दशा में श्रावक कुपात्र और साधु सुपात्र कैसे हो सकता है?

इसके सिवाय वे कहते हैं कि "अव्रती जीव छः काय का शस्त्र है। उसकी शान्ति पूछना अथवा उसको शान्ति देना, अथवा अनेक प्रकार से उसकी सेवा करना सावद्य पाप है।" परन्तु बारह व्रतधारी श्रावक तो अव्रती नहीं है। उसके लिए भगवान ने जितने भी व्रत बताये हैं, वे सब व्रत उसने स्वीकार किये हैं, फिर श्रावक का कौनसा व्रत ऐसा शेष रह गया है, जिसके न लेने से वह अव्रती कहला सकता है? यदि कहा जावे कि साधु की अपेक्षा उसमें चारित्र कम है, इसलिए उसको अव्रती कहा जाता है, तो यथाख्यात चारित्र की अपेक्षा वर्तमान साधु में भी चारित्र बल बहुत ही कम है। फिर साधु अव्रती क्यों नहीं? बल्कि श्रावक के लिए चारित्र की जो अन्तिम और

श्रेष्ठतम सीमा बताई गई है, श्रावक उस सीमा का पालन पूर्णतया कर रहा है, परन्तु साधु के लिए जो अन्तिम और श्रेष्ठतम सीमा बताई गई है, साधु उससे बहुत ही दूर है, पिछड़ा हुआ है। ऐसा होते हुए भी साधु सुव्रती तथा सुपात्र और श्रावक अव्रती तथा कुपात्र कैसे रह सकता है? श्रावक भी सुव्रती तथा सुपात्र है। फिर भी तेरह-पन्थी साधु श्रावक के विषय में और श्रावकत्व की चरम सीमा पर पहुंचे हुए ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक के लिए भी कहते हैं कि श्रावक को खिलाना पाप है, श्रावक की सेवा करना पाप है, ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक को भिक्षा देना पाप है और श्रावक की कुशल-क्षेम पूछना भी पाप है।

हम पूछते हैं कि जब सुव्रती होने पर भी श्रावक को खिलाना या ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक को भिक्षा देना पाप है, तो साधु को देना धर्म कैसे हो जावेगा? यदि तेरह-पन्थी कहें कि श्रावक में अभी अव्रत शेष हैं, तो उनका यह कहना झुठ है। श्रावक के लिए जितने व्रत बताये गये हैं, वे सब व्रत स्वीकार कर लेने पर अव्रत कहां रहा? यदि कहा जावे कि व्रत लेने के बाद जो बाकी रह गया है, वह अव्रत है, तो जो बाकी रहा है उसे भी त्यागना साधु का व्रत है, श्रावक का व्रत नहीं है। श्रावक के तो जितने भी व्रत कहे गये हैं, श्रावक उन सब को स्वीकार कर चुका है। श्रावक के व्रतों की मर्यादा जितनी कही गई है,

श्रावक उन सब का पूर्णतया पालन करता है। वह श्रावक पद का आराधक है, ऐसा सूत्र में कहा है। वह मर्यादा के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करता। लेकिन साधु तो मर्यादा के विरुद्ध आचरण करते हैं, क्योंकि परिग्रह में शरीर की भी गणना है। साधुओं को शरीर से ममत्व है या नहीं? यदि नहीं, तो नित्य घर घर भोजन के लिए क्यों भटकते हैं? शीत, ताप और वर्षा से बचने का प्रयत्न क्यों करते हैं? पैर में एक छोटासा कांटा भी लग जाता है, तो निकालने क्यों बैठते हैं? रोग होने पर वैद्य, डाक्टर की शरण क्यों लेते हैं? अर्श होने पर ऑप्रेशन क्यों करने देते हैं?* यदि कोई ऑप्रेशन करने लगे, तो उसको रोक

---

* तेरह-पन्थी, 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ २६८ में कहते हैं- 'जे अर्श छेदे ते वैद्य ने क्रिया लागे, अने जे साधु नी अर्श छेदाणी, तेहने क्रिया न लागे' इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं-- 'तिवारे कोई कहे, ए वैद्य ने क्रिया कही ते पुण्य नी क्रिया छे, पिण पाप नी क्रिया नहीं। एहवो ऊंधो अर्थ करे, तेहने उत्तर—इहां कह्या, अर्श छेदे ते वैद्य ने क्रिया लागे, पिण धर्मान्तराय साधु रे पड़ी। धर्मान्तराय ते धर्म में विघ्न पड्यो, तो जे साधु रे धर्मान्तराय पाडे, तेहने शुभ क्रिया किम हुवे? ए धर्मान्तराय पाड्यां तो पुण्य बँधे नहीं। धर्मान्तराय पाड्यां तो पाप नी क्रिया लागे छे।'

क्यों नहीं देते ? यदि आप भोजन न करें, शीत, ताप, वर्षा से बचने का प्रयत्न न करें; पैर का कांटा न निकालें, रोग होने पर वैद्य डाक्टर की शरण न लें तो क्या आपको पाप होगा ? सनत्कुमार (चक्रवर्ती) मुनि ने शरीर के रोग नहीं मिटाये तो क्या उनको पाप हुआ ? गजसुकुमार मुनि ने शरीर की रक्षा का प्रयत्न नहीं किया तो क्या उन्हें पाप लगा ? जिन कल्पी साधु शीत, वर्षा, ताप सहते हैं, तो क्या पाप करते हैं ? अनेक साधुओं ने साधु होते ही आहार पानी त्याग दिया, तो क्या उनको पाप हुआ ? यदि नहीं तो फिर आप शरीर-रक्षा का

यह युक्ति उनकी मूर्खतापूर्ण है। कारण कि अर्श (मस्सा) छेदने से साधु के धर्मान्तराय नहीं पड़ती, परन्तु मस्सा के कारण से साधु को जो पीड़ा होती थी, जिससे उनके शुभ ध्यान में विघ्न पड़ता था, किसी समय पर रोग और पीड़ा के कारण आर्त्तध्यान भी होता था, वह मिटाया और भविष्य में समाधि रहेगा, उस समाधि करने के निमित्तभूत वैद्य, डाक्टर ही हैं, वास्ते उसको महापुण्य और अशुभ कर्म की निर्जरा होती है। जैसे जीवानन्द वैद्य ने मुनि के शरीर में कृमियादि रोग की शान्ति करके तीर्थङ्कर नाम के योग्य पुण्य एकत्रित किए थे।

तेरह-पन्थी कहते हैं कि जिस वैद्य ने साधु का अर्श (मस्सा) छेदा है, उसने साधु के धर्म में विघ्न डाला है, साधु को धर्मान्तराय दी है, इसलिए उसको पाप की क्रिया लगती है, लेकिन साधु को क्रिया नहीं लगती। क्याही अच्छा न्याय है। अर्श छेदे उसको पाप, और जिनका रोग गया उनको धर्म।

प्रयत्न क्यों करते हैं, और जो शरीर से ममत्व रखते हैं, तो आपका परिग्रह व्रत नष्ट हुआ या रहा ?

इस प्रकार साधु तो पहिले व्रत अहिंसा (जैसा कि पूर्व के प्रकरण में नाव विहार आदि के उदाहरण देकर सिद्ध किया जा चुका है) को भी तोड़ते हैं, पांचवें परिग्रह व्रत को भी तोड़ते हैं, और दूसरे सत्यव्रत को भी तोड़ते हैं, लेकिन श्रावक ने जितने भी व्रत लिये हैं, उन सबका पूर्णतया पालन करता है, फिर भी साधु को आहार पानी देना धर्म और श्रावक को खिलाना पिलाना पाप कैसे है ? व्रतों का भंग साधु करते हैं, ऐसी दशा में सुव्रती साधु रहे या श्रावक रहा ? अव्रत साधु में आया, या श्रावक में आया ?

यदि तेरह-पन्थी साधु, यह कहें कि हम में यानी साधुओं में जो कमी है, साधु उसी कमी को मिटाने की ही भावना रखते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि क्या श्रावक इस प्रयत्न में नहीं रहता है ? वह भी नित्य ही चौदह नियम का चिंतवन करता है व मनोरथादि भावना भाता है, जिसमें से एक यह भी है कि कब वह दिन धन्य होगा जब मैं आरम्भ परिग्रह का सर्वथा त्यागी होऊँगा । इस तरह इस अंश में तो साधु और श्रावक बराबर ही रहे, और ग्रहण किये हुए व्रतों

रहा। ऐसी दशा में साधु सुपात्र और श्रावक कुपात्र कैसे हो सकता है ?

तेरह-पन्थी साधु दूसरे सत्य व्रत को भी शास्त्र पाठ का विपरीत अर्थ करके तोड़ते हैं। यद्यपि इस विषयक सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, लेकिन विषय बढ़ जावेगा और अभी इसमें आगे भी कुछ आवेगा ही, इसलिए यहां केवल एक ही उदाहरण देकर सन्तोष करते हैं।

उपासक दशांग सूत्र में पन्द्रह कर्मादान बताकर श्रावकों के लिए कहा है कि ये कर्मादान (व्यापार) श्रावकों को जानने चाहिए, परन्तु इनका आचरण न करना चाहिये। उन पन्द्रह कर्मादान में पन्द्रहवां कर्मादान 'असईजण पोसणया' है। इसका अर्थ है—असई यानी असती, जण यानी लोग, पोसणया यानी पोषण करना। अर्थात् असती (दुराचारिणी) स्त्रियों का पोषण करने का व्यापार करना। जैसा कि आजकल बम्बई आदि में होता है, कि कुल्टाओं को रखकर, उनके द्वारा आजीविका चलाते हैं। श्रावकों के लिए यह कर्म निषिद्ध है।

असई का अर्थ असंयति कदापि नहीं होता। 'अ' 'सई' का निषेधक है। मूल शब्द 'सई' है। 'सई' शब्द साधु के अर्थ में न तो है, न कहीं आया ही है। सई शब्द का अर्थ सती होता है सो 'अ' से सतीत्व का निषेध रूप। असती यानी कुल्टा

व्यभिचारिणी होता है। ऐसा होते हुए भी तेरह-पन्थी लोग 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८५ में 'सई' शब्द का अर्थ संयति, और 'असई' शब्द का अर्थ असंयति करते हैं। ऐसा अर्थ वे यह बताने के लिए करते हैं कि देखो, असंयति का पोषण करना, पन्द्रह कर्म-दान में से एक है, और पन्द्रह कर्मादान, श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य हैं, इसलिए असंयति (साधु के सिवाय अन्य लोगों) का पोषण करना पाप है। वे 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८५ में लिखते हैं—

"तिहां 'असती जण पोसणया' तथा 'असई पोपणया' कह्यो छे। एह तो अर्थ केटलाक विरुद्ध करे छे *। अने इहां १५ व्यापार कह्या छे। ति वारे कोई इम कहे इहाँ असंयति पोप व्यापार कह्यो छे। तो तुम्हें अनुकम्पा रे अर्थे असंयमी नें पोप्यां व्यापार किम कह्यो छो। तेहनो उत्तर—ते असंयती पोपी पोपी ने व्यापार करे। ते असंयती ने पोपे ते व्यापार नथी कहिये। पर पाप किम न कहिये। जिम कोयला करी वेचे ते 'अंगाल कर्म' व्यापार अने दाम विना आग लाय ने कोयला करी आपे ते व्यापार नथी पर पाप किम न कहिये। तिम असंयती

---

* उनके कहने का अभिप्राय यह है कि कई लोग 'असती' (वेश्या आदि) पोषण अर्थ करते हैं।

प्रकृति कैसे बढ़ती है ? यदि पुण्य-प्रकृति का विकाश नहीं माना जावे तो एकेन्द्रिय जीव, द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक कैसे पहुँचे ?

सम्यक्त्व तो पंचेन्द्रिय को ही प्राप्त होती है, वहां तक पुण्य-प्रकृति कैसे बंधे ? और सुनिये ! प्रथम गुणस्थान में वर्तते हुए जीव को ११७ प्रकृति का बन्ध बताया है, जहां ३९ पुण्य-प्रकृति हैं। वहां सकाम निर्जरा तो है नहीं, फिर बिना सकाम निर्जरा के पुण्य प्रकृति बंधी या नहीं ? इसलिए यही मानना होगा कि पुण्य का उत्पादन निर्जरा के बिना भी हो सकता है और पुण्य रहित निर्जरा भी हो सकती है। यानी एकान्त रूप से पुण्य भी उत्पन्न होता है, और एकान्त रूप से निर्जरा भी होती है। यदि पुण्य रहित निर्जरा का होना न माना जावेगा, तो उस दशा में जीव को कभी मोक्ष हो हा नहीं सकता। क्योंकि निर्जरा के साथ पुण्य की उत्पत्ति आवश्यक मानने पर जीव जैसे जैसे कर्म की निर्जरा करेगा, वैसे ही वैसे पुण्य उत्पन्न होता रहेगा और जब तक पुण्य तथा पाप दोनों ही नहीं छूट जाते, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता।

मतलब यह कि तेरह-पन्थियों का यह कहना बिलकुल गलत है कि पुण्य तो निर्जरा के साथ ही होता है, निर्जरा के बिना पुण्य नहीं होता। इसके लिए तेरह-पन्थी लोग खेत के अनाज और घास का जो उदाहरण देते हैं, उसी उदाहरण का उपयोग

म भी करते हैं और कहते हैं कि जिस तरह घांस, खेत में
नाज के साथ आप ही उत्पन्न हो जाती है और कभी अनाज
न होने पर भी उत्पन्न होती है, तथा कभी केवल घांस ही
त्पन्न की (बोई) जाती है, उसी तरह पुण्य कभी निर्जरा के
ाथ भी उत्पन्न होता है, कभी निर्जरा के बिना भी उत्पन्न होता
, और कभी केवल पुण्य ही उत्पन्न किया जाता है। जिस
कार आवश्यकतानुसार घांस भी उपादेय माना जाता है, उसी
कार आवश्यकतानुसार पुण्य भी उपादेय है। जिस प्रकार
ावश्यकता पूरी होजाने पर घांस फेंक दी जाती है, उसी प्रकार
ावश्यकता पूरी हो जाने पर पुण्य भी त्याग दिया जाता है।
रन्तु जिस प्रकार आवश्यकता होने पर घांस भी उगाई जाती है,
स को भी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार आवश्यकता के लिए
ुण्य भी उत्पन्न किया जाता है, और पुण्य की भी रक्षा की
ाती है।

जिन लोगों के पास पशु अधिक होते हैं, वे अनाज के
त्पादन की अपेक्षा घास के उत्पादन का अधिक प्रयत्न करते हैं,
ल्कि कभी कभी तो बोये हुए अनाज का उपयोग भी घास के
दले करते हैं। उसी प्रकार जो लोग संसार व्यवहार में हैं, वे
ो निर्जरा करने की अपेक्षा पुण्य का अधिक उत्पादन कर सकते
, और करते भी हैं। वही पुण्य आगे कभी निर्जरा करने में

सहायक हो जाता है। इसीलिए शास्त्र में नव प्रकार के पुण्य कहे गये हैं, जो दान द्वारा तथा मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं तथा पुण्योत्पादन का आदर्श रखने के लिए ही तीर्थंकर लोग दीक्षा लेने से पहले एक वर्ष तक सोनैयों का दान देते हैं।

तीर्थंकर लोग सोनैयों का जो दान देते हैं, वह दान साधु तो लेते ही नहीं है, असाधु ही लेते हैं। यदि तीर्थंकरों के उस दान से पुण्य का उत्पन्न होना न माना जावेगा, तो फिर तेरह-पन्थियों की मान्यता के अनुसार उस दान को पाप मानना होगा। क्योंकि तेरह- पन्थियों की ये मान्यताएँ हम ऊपर बता चुके हैं कि—

(१) अव्रती को दान देना पाप है।

(२) पुण्य से अनेरी (दूसरी) प्रकृति पाप की है।

इन मान्यताओं के अनुसार तीर्थंकरों द्वारा दिया गया दान पाप ठहरता है। लेकिन तेरह पन्थियों का यह साहस भी नहीं होता कि तीर्थंकरों द्वारा दिये गये दान को वे पाप कह डालें। इसलिए वे यह कहते हैं कि 'यह तो तीर्थंकरों की रीति है'। दूसरी बात यह कहते हैं कि तीर्थंकर जो सोनैया दान देते हैं, वे सोनैया देवताओं के लाये हुए होते हैं। बहुत ठीक, परन्तु देवों के दिये हुए सोनैया या अन्य चीजों का दान करने से पाप तो नहीं होता न ? तब तो पुण्य ही होगा ? क्योंकि जहाँ पुण्य

नहीं, वहां पाप मानते हो; तो जहां पाप नहीं, वहां पुण्य का होना क्यों न मानोगे ? यदि किसी आदमी को, देवों का, राजा का या बाप-दादा का या जमीन में गड़ा या पड़ा हुआ, बहुतसा धन मिला और उसने लँगड़ों, लूलों, भिखारियों को बांट दिया, अथवा अनाथाश्रम, अपंगाश्रम या पांजरापोल को दे दिया, तो आपकी दृष्टि में उस आदमी का यह दान पाप में रहा या पुण्य में ?

यदि तेरह-पन्थी लोग ऐसे दान को पुण्य में माने, तब तो फिर उन्हें साधु के सिवाय अन्य लोगों को दिये गये दान में पुण्य मानना ही पडेगा; परन्तु तेरहपन्थी लोग, इस तरह के दान को पुण्य नहीं मानते, अपितु पाप मानते हैं। तब तीर्थंकरों द्वारा दिया गया दान, पाप क्यों नहीं रहा ? उसको पाप कहने में संकोच क्यों होता है।

तेरह-पन्थी लोग कहते हैं कि तीर्थंकरों की दान देने की रीति है, इससे वे दान देते हैं। अतः उसमें पुण्य भी नहीं है और पाप भी नहीं है। इसी प्रकार राजा श्रेणिक ने अपने राज्य में किसी जीव को न मारने की घोषणा कराई थी, उसके लिए भी कहते हैं—

श्रेणिक राजा पटहो फिरावियो यह तो जाणो हो मोटा राजां री रीत। भगवन्त न सराह्यो तेहने तो किम आवे हो तिणरी परतीत।

('अनुकम्पा' ढाल ७ वीं)

अर्थात्--श्रेणिक राजा ने जो अमारी घोषणा (जीव न मारने विषयक) कराई थी, वह तो बड़े राजाओं की रीति है। भगवान ने उस कार्य की सराहना नहीं की, तब उस कार्य को धर्म कैसे जाना जावे ?

इस तरह तीर्थंकरों द्वारा दिये गये दान को और श्रेणिक राजा की जीव न मारने विषयक घोषणा को 'रीति' कहकर एक ओर निकाल देते हैं। ये काम 'रीति' से होते हैं, इसलिए इनमें न धर्म मानते हैं, न पुण्य मानते हैं और पाप भी कहने की हिम्मत नहीं करते । परन्तु यदि 'रीति' होने से ही तीर्थंकरों द्वारा दिया गया दान, तथा श्रेणिक राजा द्वारा कराई गई घोषणा, धर्म, पुण्य या पाप तीनों में से किसी में नहीं है, तो फिर श्रावक का जिमाना, या विवाहोपलक्ष्य में भात, बरोठी (भात लड़की वाले की ओर से दीगई रसोई का नाम है और बरोठी लड़के वाले की ओर से दीगई रसोई का नाम है) आदि में एकान्त पाप कैसे हो सकता है ? क्योंकि ये काम भी तो रीति के अनुसार ही किये जाते हैं रीति के अनुसार दिया गया तीर्थंकर द्वारा दान और राजा श्रेणिक की घोषणा यदि पाप के अन्दर नहीं है, तो रीति के अनुसार कराये गये ज्ञाति भोजन, सम्बन्धी भोजन या सहधर्मी भोजन, पाप क्यों है और यदि 'रीति' के कारण किये जाने पर भी इन कामों में पाप होता है, तो तीर्थंकरों द्वारा दिया गया

छः काय के जीवों को मारकर जिमाते हैं। यह जीव-हिंसा का मार्ग ही बुरा है, लेकिन अनार्य लोग इसमें भी धर्म बताते हैं॥ १॥

रुपया खर्च कर अनेक आरम्भ करके अवरणी (गर्भवती का आठवें या सातवें मास का उत्सव) भात, बरोठी आदि न्याति वाले को जिमाते हैं। ये सब संसार बढ़ाने के काम हैं (यानी पाप है.) लेकिन मूर्ख लोग इनमें धर्म बताते हैं।

इस तरह सम्बन्धी, स्नेही, स्वधर्मी (श्रावक) और न्याति को जिमाना तो 'रीति' के अनुसार होने पर भी तेरह-पन्थी लोग पाप कहते हैं, फिर तीर्थङ्करों द्वारा दिये गये दान को और श्रेणिक की जीव हत्या न करने की घोषणा को पाप क्यों नहीं कहते? जब ये सभी काम रीति के अनुसार हैं, तब एक पाप हो, और दूसरा पाप नहीं, इसका क्या अर्थ? यह तो स्पष्टही जनता को धोखे में डालना है।

साधुओं के सिवा अन्य लोगों को दिया गया दान, तथा मित्र, स्नेही, सम्बन्धी, ज्ञाति आदि को भोजन कराना एकान्त पाप नहीं है, यह हम अगले प्रकरण में बतावेंगे। यहां तो केवल इतना ही बताना इष्ट है कि तेरह-पन्थी लोग, अनुकम्पा दान के दुश्मन बनकर किस तरह लोगों को चक्कर में डालते हैं, और किस तरह कहीं कुछ तथा कहीं कुछ मानते हैं।
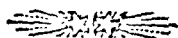
दान करना पाप नहीं है

यद्यपि दया और दान जैन धर्म के प्राण हैं। किसी भी मरते हुए जीव को बचाना और किसी नंगे भूखे या कष्ट पाते हुए का कष्ट मिटाना न तो पाप है, और न इन तेरह-पन्थियों के सिवा कोई पाप मानता ही है, इस लिए इनको सिद्ध करने हेतु कोई भी प्रयत्न करना सूर्य को दीपक बताने के प्रयत्न के समान व्यर्थ है। फिर भी तेरह-पन्थी साधु अपनी कुयुक्तियों से भोले लोगों के हृदय में यह ठसाने का प्रयत्न करते हैं कि किसी मरते हुए जीव को बचाना, अथवा साधुओं के सिवा अन्य किसी को कुछ देना, पाप है। लेकिन उनका यह कथन शास्त्र के भी विरुद्ध है, और व्यवहार के भी विरुद्ध है।

साधु के सिवा अन्य लोगों को दान देना अथवा मित्र, सम्बन्धी, स्वधर्मी आदि को खिलाना-पिलाना पाप है, यह सिद्ध करने के लिए तेरह-पन्थी लोग आनन्द श्रावक का उदाहरण सामने रखते हैं, कि देखो आनन्द श्रावक ने भगवान महावीर के सामने यह प्रतिज्ञा की थी, कि मैं श्रमण व निग्रन्थ के सिवाय और

किसी को आहार पानी न दूँगा, न उनका स्वागत सत्कार ही करूँगा आदि। ऐसा उदाहरण देकर तेरह-पन्थी लोग इस पर से यह दलील करते हैं, कि यदि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना तथा खिलाना-पिलाना या स्वागत सत्कार करना पाप न होता, तो आनन्द श्रावक ऐसा अभिग्रह क्यों लेता? और भगवान महावीर ऐसा अभिग्रह क्यों कराते? आदि।

इस तरह आनन्द श्रावक के अभिग्रह के नाम से साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना पाप बताते हैं। यद्यपि आनन्द श्रावक ने जो अभिग्रह लिया था, वह अन्य युथिक साधुओं को गुरु बुद्धि से दान देने के विषय में ही लिया था, ऐसा तेरह-पन्थियों के सिवाय वे सभी जैन मानते हैं—जो उपासक दशांग सूत्र को मानने वाले हैं, परन्तु यह बात तेरह-पन्थियों को स्वीकार नहीं है। वे इस सम्बन्ध में बहुतसी दलीलें करते हैं, और कहते हैं कि आनन्द श्रावक का अभिग्रह साधु के सिवाय सब के लिए था।

हम इन दलीलों में अभी न पड़ कर, आनन्द श्रावक के चरित्र से ही यह सिद्ध करते हैं कि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना या मित्र, ज्ञाति, कुटुम्बी, स्वजन, सम्बन्धी आदि को खिलाना-पिलाना या देना लेना पाप नहीं है। हम जो कुछ कहेंगे, उससे यह भी स्पष्ट हो जावेगा कि वास्तव में आनन्द

श्रावक ने जो अभिग्रह किया था, वह सब लोगों के लिए नहीं था, किन्तु केवल अन्य युथिक साधुओं को दान देने आदि के विषय में ही था और वह भी केवल गुरु बुद्धि से।

आप आनन्द श्रावक के चरित्र को देखिये। "किसी समय आधी रात के पश्चात् धर्म जागरणा करते हुए आनन्द श्रावक ने इस प्रकार का अध्यवसाय (विचार) और मनोगत संकल्प किया कि मैं इस वाणिज्य ग्राम नगर के बहुत से राज्याधिकारी एवं समस्त कुटुम्ब के लिए आधार भूत हूँ, इस कारण उनके कामों मे पडने से मैं, भगवान महावीर के पास से जो धर्म स्वीकार किया है, उस धर्म को पुरी तरह पालने में समर्थ नहीं हूं ? इस लिए मैं कल सूर्योदय होने पर बहुतसा असन पान खाद्य और स्वाद्य (भोजन, पेय, उपभोजन और स्वाद्य) निपजाकर मेरे मित्र ज्ञाति आदि को जिमाकर तथा मित्र ज्ञाति और बड़े पुत्र की सम्मति लेकर, कोल्लाक सन्निवेश की पौषधशाला में भगवान महावीर से स्वीकृत धर्म का पालन करता हुआ विचरूँगा। इस तरह निश्चय करके आनन्द श्रावक ने सूर्योदय होने पर बहुत सी खाने पीने आदि की सामग्री बनवाई, और मित्र ज्ञाति तथा नगर के लोगों को बुलाकर उनको खिलाया—पिलाया, तथा पुष्प-वस्त्र आदि से उन सब का सत्कार सम्मान किया। फिर उन सब के सामने अपने बड़े पुत्र को बुलाकर उससे कहा, कि हे पुत्र! जिस प्रकार

आनन्द श्रावक का यह कार्य उसके द्वारा रखे गये किसी आगार के अन्तर्गत भी नहीं आता है। क्योंकि उसने सब को भोजन कराने आदि विषयक जो निश्चय किया था, वह अपने मन से ही किया था, ऐसा शास्त्र का स्पष्ट पाठ है। उससे राजा गण, बलवान, गुरुजन आदि किसी ने भी यह नहीं कहा था कि तुम सब को भोजन कराओ या वस्त्रादि दो।

आनन्द श्रावक ने अपने इस कार्य के लिए कोई प्रायश्चित भी नहीं लिया था। और तो क्या, उसने सबको खिलाने का जो निश्चय किया था, वह भी धर्म जागरणा करते हुए। यदि पुरजन आदि किसी को खिलाना अथवा किसी को कुछ देना पाप होता, तो आनन्द श्रावक ऐसा पाप क्यों करता? उसने यह कार्य भूल से किया हो, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि शास्त्र का यह पाठ स्पष्ट है कि आनन्द श्रावक ने जो व्रत लिये थे, या जो प्रतिज्ञा की थी उनका अर्थ भी भगवान से समझ लिया था।

यदि तेरह-पन्थियों के कथनानुसार मित्र, ज्ञाति सम्बन्धी आदि को खिलाना-पिलाना या देना पाप होता तो आनन्द श्रावक के लिए ऐसा कोई कारण न था, जो वह ऐसा पाप करता क्योंकि आनन्द श्रावक ने यह कार्य विशेष निवृत्ति बढ़ाते समय श्रावकपने में किया था। इस प्रकार इस पाठ से सिद्ध है कि—

(१) आनन्द श्रावक ने जो अभिग्रह किया था, वह अन्य तीर्थी साधुओं को गुरु बुद्धि से देने के विषय में ही था। साधुओं के सिवाय और किसी को भोजन कराना या कुछ देना पाप है, इस दृष्टि से आनन्द का अभिग्रह नहीं था।

(२) मित्र, स्नेही, ज्ञाति तथा अन्य लोगों को खिलाना-पिलाना या वस्त्रादि देना पाप नहीं है। यदि पाप होता, तो आनन्द श्रावक यह पाप क्यों करता, जब कि वह विशेष निवृत्ति करने जा रहा था। और अभिग्रह भंग करके करता तो विराधक माना जाता आलोचना भी करता, सो कुछ भी अधिकार उपासक-दशांग में नहीं है।

आनन्द श्रावक के लिए यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि आनन्द श्रावक सब के लिए आधार भूत था। आनन्द श्रावक के वर्णन में यह बात कई बार आई है कि आनन्द श्रावक सब के लिए आधार था और आनन्द श्रावक ने अपने लड़के से भी यही कहा था, कि तुम भी सबके लिए आधार होकर विचरना। कोई भी आदमी किसी के लिए तभी आधार हो सकता है, जब कि वह आधार बना हुआ व्यक्ति आधेय व्यक्ति के प्रति उदारता पूर्ण व्यवहार रखे, और आधेय व्यक्ति को समय २ पर कुछ देता भी रहे, उनका कष्ट भी मिटाता रहे। बिना ऐसा किये कोई भी व्यक्ति

किसी के लिए आधार कैसे माना जा सकता है ? आनन्द में ये सभी बातें थी, तभी तो वह सब के लिए आधार भूत था।

तेरह-पन्थी लोग इन सभी बातों को पाप मानते हैं। परन्तु यदि ये बातें पाप होती, तो आनन्द श्रावक इन सब बातों का भी त्याग कर देता। लेकिन आनन्द श्रावक जब तक संसार व्यवहार में रहा, तब तक सब के लिए आधार बना रहा, और संसार व्यवहार से निवृत्त होते समय उसने अपने लड़के को भी यही शिक्षा दी कि सब के लिए आधार बनकर रहना। इससे स्पष्ट है, कि आधार बनने के लिए, आनन्द में दूसरे की सहायता करना, दूसरे का दुःख मिटाना और दूसरे के प्रति उदारता पूर्ण व्यवहार रखना आदि जो बातें थीं, वे बातें पाप रूप नहीं थीं, किन्तु पुण्य रूप ही थीं।

तेरह-पन्थियों की मान्यतानुसार तो दाम लेकर असंयति का पोषण करना, पन्द्रह कर्मादानों में का एक कर्मादान है, यानी अनाचरणीय पाप है, और बिना दाम लिये भी असंयति का पोषण करना पाप है (जैसा कि हम पिछले कुपात्र सुपात्र के प्रकरण में तेरह-पन्थियों द्वारा शास्त्र के गलत अर्थ करने के उदाहरणों में बता चुके हैं)। लेकिन यदि तेरह-पन्थियों का यह कथन सही होता, तो आनन्द श्रावक ऐसे पाप क्यों

हुए लोगों को खिलाता पिलाता हुआ, शील व्रत प्रत्याख्यान पौषधोपवास करता हुआ विचरूंगा।

इस शास्त्र पाठ से भी सिद्ध है कि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना एकान्त पाप नहीं है। इसी प्रकार साधुओं के लिए भी दीन-दुःखी भिक्षुक आदि को दान देने के लिए उपदेश देना, पाप नहीं है। यदि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना, या देने का उपदेश देना एकान्त पाप होता, तो केशी श्रमण राजा प्रदेशी को दान देने के लिए उपदेश ही कैसे देते और राजा प्रदेशी, श्रावक बनने के पश्चात् सबको दान देने के लिए दानशाला बनवाने की केशी स्वामी के सामने प्रतिज्ञा ही क्यों करता? यह बात तो थोड़ी बुद्धि वाला भी समझ सकता है कि जो प्रदेशी राजा नास्तिक था, दान-पुण्य, आत्मा-परमात्मा या साधु भिक्षुक आदि किसी को मानताही न था, उसको यदि केशी श्रमण ने दान देने का निषेध कर दिया होता, तो वह दानशाला विषयक योजना कैसे बनाता, तथा वह योजना केशी श्रमण को क्यों सुनाता! इससे स्पष्ट है, कि—

(१) दीन-दुःखी भिखारी आदि को दान देना एकान्त पाप नहीं है।

(२) साधु का इस विषयक उपदेश देना भी एकान्त पाप नहीं है, किन्तु इस विषय पर से निषेध करना ही पाप है।

यहां पर तेरह-पन्थी लोग एक दलील देते हैं। उस दलील का उत्तर देना भी आवश्यक है। तेरह-पन्थी लोग कहते हैं कि राजा प्रदेशी की दानशाला खोलने विषयक प्रतिज्ञा सुनकर भी केशी श्रमण मौन ही रहे। केशी श्रमण कुछ बोले नहीं, मौन रहे, इस लिए राजा प्रदेशी का दानशाला खोलना पाप है। क्या ही मजेदार दलील है ? इस दलील के अनुसार जिस बात को सुनकर साधु चुप रहे, वह बात पाप में ही मानी जावेगी। परन्तु राजा प्रदेशी ने दानशाला की बात कहते हुए यह भी कहा था कि 'मैं शील प्रत्याख्यान और पौषध उपवास करता हुआ विचरूँगा'। राजा प्रदेशी के इस कथन को सुनकर भी केशी मुनि कुछ नहीं बोले थे। इस लिए क्या शील प्रत्याख्यान और पौषध उपवास भी पाप हैं ? केशी मुनि के न बोलने पर भी यदि शील प्रत्याख्यान और पौषध उपवास पाप नहीं हैं, तो दानशाला खुलवाना तथा दान देना ही पाप क्यों हो जावेगा ? और यदि साधु के सिवाय अन्य लोगों को देना पाप था, तो केशी श्रमण ने राजा प्रदेशी के दानशाला खोलने विषयक विचार की निन्दा क्यों नहीं की थी ? यदि यह कहा जावे कि दानशाला खोलने विषयक विचार की निन्दा करने से बहुत से लोगों को अन्तराय लगती, तो तेरह-पन्थियों का यह कथन, उन्हीं के कथन के विरुद्ध होगा। तेरह-पन्थी लोग 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ट ५१ ५२ में स्पष्ट कहते हैं, कि—

केशी श्रमण ने यह सब नहीं किया, इसलिए तेरह-पन्थियों की दृष्टि में केशी श्रमण, कर्तव्य से भ्रष्ट हुए । लेकिन केशी श्रमण कर्तव्य भ्रष्ट थे, ऐसा तेरह-पन्थी भी कहते या मानते नहीं है। ऐसी दशा में तेरह-पन्थियों की यह दलील कोई कीमत नहीं रखती, कि राजा प्रदेशी का दानशाला विषयक कथन सुनकर केशी श्रमण कुछ नहीं बोले थे, और इसलिए राजा प्रदेशी का दानशाला खोलना पाप था।

केशी श्रमण के न बोलने से, और केशी श्रमण ने दानशाला विषयक राजा प्रदेशी के विचार की सराहना नहीं की थी, इससे यदि राजा प्रदेशी का दानशाला खोलना पाप है, तो आनन्द श्रावक का व्रत अभिग्रह आदि स्वीकार करना भी पाप हो जावेगा। क्योंकि आनन्द श्रावक ने अन्य यूथिक साधुओं को दान सम्मान आदि न देने तथा श्रमण निर्ग्रन्थ को भोजन पानी आदि देने विषयक जो अभिग्रह भगवान महावीर के सामने किया था, उस अभिग्रह के करने पर भी भगवान महावीर कुछ नहीं बोले थे।

भगवान महावीर ने आनन्द श्रावक के अभिग्रह की सराहना नहीं की थी। इसलिए तेरह-पन्थी लोग जिस तरह आनन्द श्रावक के अभिग्रह का अर्थ साधु के सिवाय अन्य सभी को न देना करते हैं उसी तरह साधुओं को देना भी पाप ठहरेगा क्योंकि भगवान ने दोनों ही की सराहना नहीं की थी। इसलिए तेरह–

पन्थी लोग ऐसा मानते नहीं हैं। अतः केशी श्रमण ने राजा प्रदेशी के दानशाला विषयक विचार का समर्थन नहीं किया था, इसलिए राजा प्रदेशी का वह कार्य पाप ही था, ऐसी तेरह-पन्थियों की दलील लोगों को केवल भ्रम में डालने के लिए ही है। अपना उद्देश्य पूरा करने के वास्ते, व्यर्थ की दलील है। इसमें तथ्य बिल्कुल नहीं है।

सारांश यह कि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना पाप नहीं है। यह बात तीर्थङ्करों का दान देना भी सिद्ध करता है, और ऊपर शास्त्र के जो दो प्रमाण दिये गये हैं, उनसे भी सिद्ध है।

तेरह-पन्थियों की एक दलील और है। वे अपनी 'अनुकम्पा' की बारहवीं ढाल में कहते हैं कि यदि सोनैया, धन-धान्य आदि असंयति लोगों को देने में, तथा मरते हुए असंयति जीवों को बचाने में धर्म होता तो भगवान महावीर की प्रथम वाणी निष्फल क्यों जाती? देवता लोग लोगों को सोनैया, धन-धान्य, रत्न आदि देकर, तथा समुद्र में मरती हुई मछलियों को बचाकर भगवान महावीर की वाणी सफल करते। इस सारी ढाल में उन्होंने देवताओं का ही उदाहरण लिया है। उनका थोड़ासा कथन उदाहरण के तौरपर यहां दिया जाता है—

जाता है, कि तेरह-पन्थियों की इस विषयक दलीलें झूठी हैं, लोगों को भ्रम में डालने के लिए हैं, और इस तरह लोगों के हृदय में से करुणा निकालने के लिए हैं।

जीव को बचाना पाप नहीं है, किन्तु अनुकम्पा है; रक्षा है, यह बात 'ज्ञाता सूत्र में' मेघकुमार के अधिकार से भी सिद्ध है। 'ज्ञाता सूत्र में कहा गया है कि भगवान महावीर ने मेघकुमार से स्पष्ट ही कहा था, कि—हे मेघकुमार! तूने हाथी के भव में प्राणभूत जीव सत्व की अनुकम्पा की थी, उस शशले की रक्षा के लिए तो बीस पहर तक पैर ऊँचा रखकर अपने शरीर का ही बलिदान कर दिया था, इसीसे समकित रत्न प्राप्त हुआ, संसार परिमित हुवा, मनुष्य जन्म, राजश्री वैभव आदि प्राप्त हुवे और अन्त में तू संयम ले सका। यदि जीव—रक्षा में पाप होता, तो भगवान महावीर जीव-रक्षा का यह परिणाम क्यों बताते?

मेघकुमार के उदाहरण के लिए भी तेरह-पन्थी लोग एक व्यर्थ की दलील करते हैं। वे कहते हैं कि—मेघकुमार ने हाथी के भव में शसले को नहीं मारा था, इसीसे उसको मनुष्य जन्म आदि मिला, परन्तु हाथी के मण्डल में जो बहुत से जीवों ने आकर आश्रय लिया था, उससे तो हाथी को पाप ही लगा। समझ में नहीं आता कि तेरह-पन्थी लोग यह दलील किस आधार पर खड़ी करते हैं। एक कवि ने कहा है—

अति रमणीये काव्ये पिशुनो दूषणमन्वेषयति ।
अति रमणीये वपुषि व्रणमिव मक्षिका निकरः ॥

अर्थात्—अच्छे रमणीय काव्य में भी धूर्त लोग उसी प्रकार दोष को खोजा करते हैं, जिस प्रकार बहुत रमणीय शरीर में भी मक्खी केवल घाव ही खोजा करती है ।

इसके अनुसार सर्वज्ञों के प्रतिपादित करुणा से भरे हुए शास्त्रों में भी तेरह-पन्थी लोग केवल 'पाप ही पाप' खोजा करते हैं। ऐसा करने का कारण या तो उनका स्वभाव ही ऐसा है, अथवा उनकी अपने मत के प्रचार की स्वार्थ बुद्धि है । यदि ऐसा न होता, तो तेरह-पन्थी लोग दया और दान में पाप सिद्ध करने के लिए महा-पुरुषों द्वारा छोड़े गये आदर्शों को विकृत बनाने का यत्न ही क्यों करते ?

यद्यपि तेरह-पन्थियों की मेघकुमार के चरित्र के विषय में दी जाने वाली दलील बिलकुल ही व्यर्थ है, फिर भी बेसमझ लोगों को भ्रम से बचाने के लिए हम उनकी दलील का संक्षिप्त उत्तर देते हैं ।

शास्त्र में ऐसा कहीं नहीं आया है, कि हाथी ने एक शसले को नहीं मारा था, इसीसे उसको मनुष्य-जन्म आदि प्राप्त हुआ था
[illegible] कहा है कि—

प्राणाणुकम्पयाए भूयाणुकम्पयाए जीवाणुकम्पयाए सत्वाणुकम्पयाए ।

अर्थात्—प्राणी भूत जीव और सत्त्व की अनुकम्पा से तुझे सम्यक्त्व और मनुष्य जन्म आदि मिला ।

भगवान महावीर ने यह नहीं कहा, कि तेरे मण्डल में दूसरे जो जीव आकर रहे थे, उनके बचने से तुझे पाप हुआ । इसके सिवाय शास्त्र के पाठानुसार हाथी ने एक योजन का मण्डल बनाया था । उस एक योजन (चार कोस) के मण्डल में दावानल से बचने के लिए इतने जीव आकर घुस गये थे कि कहीं थोड़ी भी जगह शेष नहीं रही थी । इसीसे शशक इधर उधर मारा मारा फिरता था, उसको बैठने को जगह न मिली थी, और इतने ही में हाथी ने अपना पैर खाज खनेने को उठाया, उस खाली जगह में शशक बैठ गया ।

बुद्धि से विचारने की बात है कि हाथी के उस मण्डल में कितने जीव बचे होंगे ? हाथी ने अपने मण्डल में उन असंख्य जीवों को आश्रय दिया, इस कारण तेरह-पन्थियों की मान्यतानुसार तो हाथी को कितना पाप लगना चाहिये । थोड़ी देर के लिये तेरह-पन्थियों का यह कथन मान भी लें कि एक शशक को न मारने से ही, हाथी को मेघकुमार का भव प्राप्त हुआ था, तो इसके साथ ही यह भी मानना होगा, कि हाथी के मण्डल में

जो असंख्य जीव बचे थे, उनके बच जाने से हाथी को जो पाप
आ था उसका दुष्परिणाम स्वरूप क्या फल मिला? हाथी को
ण्य या धर्म तो हुआ एक शसले के न मारने का और पाप हुआ
संख्य जीवों के बचने का। इस प्रकार धर्म या पुण्य की अपेक्षा
प ही अधिक हुआ। ऐसी दशा में हाथी को मेघकुमार का जन्म
लेने का क्या कारण था?

इसके सिवाय यदि और जीवों का बचना पाप होता, तो
गवान महावीर मेघकुमार से स्पष्ट कह देते कि तूने शसले
नहीं मारा यह तो तुझे धर्म या पुण्य हुआ, परन्तु अन्य
वों को तूने अपने मण्डल में आश्रय दिया, इसका तुझे पाप
आ, जिसका परिणाम तुझे इस प्रकार भोगना होगा। भगवान
ऐसा न कह कर यह कहा, कि प्राणी भूत जीव सत्व की
नुकम्पा से तूने सम्यक्त्व प्राप्त किया, संसार परिमित किया
नो संसार का जन्म मरण घटाया। ऐसी दशा में तेरह-पन्थियों
ा इस विषयक की जाने वाली दलील बिलकुल व्यर्थ हो
रती है।

किसी मरते हुए जीव को बचाने में पाप सिद्ध करने के लिए,
ह-पन्थी लोग एक और दलील देते हैं। वे कहते हैं कि किसी
ते हुये को बचाने, या किसी प्यासे को पानी पिलाने या किसी
कष्ट मुक्त करने में अग्नि पानी आदि के असंख्य स्थावर जीवों

यह तेरह-पन्थ का उक्त कथन बिल्कुल झूठ और शास्त्र विरुद्ध है, यह सिद्ध करने के लिए हम एक ही ऐसा प्रमाण देते हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जावेगा, कि साधु का कर्तव्य मारने वाले तथा मरने वाले दोनों ही के कल्याण के लिए उपदेश देना है। इसी प्रकार श्रावक का भी कर्तव्य है कि वह मरते और कष्ट पाते हुए जीव को बचाने और कष्ट मुक्त करने का प्रयत्न करे।

'राय प्रसेणी' सूत्र में राजा प्रदेशी का वर्णन आया है। सूत्रानुसार, राजा प्रदेशी नास्तिक था। वह 'आत्मा नहीं है' ऐसा मानता था। इस कारण वह अनेक द्विपद (मनुष्य पक्षी आदि), चौपद (पशु आदि), मृग पशु पक्षी और सरीसृप (सांप आदि बिना पांव के जीव को मार डालता था। ब्राह्मण भिक्षुक आदि की भीख भी छीन लेता था, तथा अपने समस्त राज्य को उसने बहुत दुःखी कर रखा था।

प्रदेशी राजा के चित्त नाम के प्रधान, ने जो बारह व्रतधारी श्रावक था। राजा प्रदेशी द्वारा होने वाले अत्याचारों से जनता को बचाने के लिए, केशी स्वामी से कहा, कि हे देवानु प्रिय ! आप यदि राजा प्रदेशी को धर्म सुनावें, तो प्रदेशी राजा को, तथा (उसके हाथ से मारे जाने वाले) बहुत से द्विपद, चौपद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृप को बहुत गुणयुक्त फल (लाभ) होगा। हे देवानुप्रिय ! आप यदि राजा प्रदेशी को धर्म

सुनावें, तो प्रदेशी राजा के साथ ही बहुत से श्रमण, माहण और भिक्षुकों को गुणयुक्त फल (लाभ) होगा; और इसी प्रकार हे देवानु प्रिय ! राजा प्रदेशी के साथ ही समस्त जनपद (सम्पूर्ण राज्य) को बहुत लाभ होगा।

केशी श्रमण से यह प्रार्थना उस चित्त प्रधान ने की थी, जो बारह व्रतधारी श्रावक था, और धर्म अधर्म को अच्छी तरह जानता था। चित्त प्रधान श्रावक था, यह बात 'राय प्रसेणी' सूत्र में स्पष्ट कही है, और 'राय प्रसेणी' सूत्र से यह भी स्पष्ट है, कि चित्त प्रधान की इस प्रार्थना को स्वीकार करके ही केशी स्वामी ने श्वेतम्बीका पधार कर राजा प्रदेशी को धर्म का उपदेश दिया था, तथा उसको श्रावक बनाया था। यदि मरते हुए जीव को बचाना अथवा कष्ट पाते हुए को कष्ट मुक्त करना कराना पाप होता, तो चित्त प्रधान, जो श्रावक था, इस तरह का पाप-कार्य करने-कराने के लिए केशी स्वामी से प्रार्थना ही क्यों करता, और केशी स्वामी चित्त प्रधान की यह प्रार्थना स्वीकार ही क्यों करते !

शास्त्र के इस वर्णन से भी यह स्पष्ट है, कि मरते हुए जीव को बचाने तथा कष्ट पाते हुए जीव को कष्ट मुक्त करने के लिए उपदेश देना साधु का कर्तव्य है और इसी प्रकार श्रावक का भी यह कर्तव्य है, कि वह मरते हुए जीव को बचाने तथा कष्ट पाते हुए जीव को कष्ट मुक्त करने का प्रयत्न करे। यदि ऐसा न

होती, तो चित्त प्रधान केशी स्वामी से पशु-पक्षी, ब्राह्मण-भिखारी और देश आदि का लाभ होने की बात न तो केशी श्रमण से ही, कहता और न केशी श्रमण ही उसके कथन को स्वीकार करते।

शास्त्र में अभय-दान को सब से श्रेष्ठ दान कहा है। लेकिन तेरह-पन्थी लोग कहते हैं, कि किसी जीव को न मारना, यही अभय-दान है, किसी मरते हुए जीव को बचाना अभय-दान नहीं है। उनका यह कथन शास्त्र के भी विरुद्ध है और युक्ति के भी विरुद्ध है। देने का नाम दान है। न देने का नाम तो दान है ही नहीं। यदि बिना दिये ही दान हो सकता हो, तब तो साधु को आहार-पानी दिये बिना ही, केवल साधु को कष्ट न देने मात्र से ही सुपात्र दान भी हो जावेगा। परन्तु तेरह-पन्थी लोग सुपात्र-दान के लिए तो ऐसा मानते नहीं है, कि साधु को कष्ट न देने मात्र से ही सुपात्र-दान हो जाता है, और अभय-दान के लिए कहते हैं, कि किसी को भय न देने से ही अभय दान हो जाता है।

यदि तेरह-पन्थियों का यह कथन ठीक, हो, तब तो स्थावर जीव सब से अधिक अभय दान देने वाले सिद्ध होंगे। क्योंकि पृथ्वी-कायिक, जल-कायिक और वनस्पति-कायिक जीव किसे भय देते हैं? इसलिए किसी जीव को भय न देने का नाम ही अभय-दान

नहीं है, किन्तु भय पाते हुए का भय मिटाने का नाम ही अभय दान है।

'सूयगडांग' सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन में 'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं' पाठ आया है। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है, कि 'जो मांग रहा है, उसको अपने और मांगने वाले के अनुग्रह के लिए उसके द्वारा मांगी गई चीज देने का नाम दान है। ऐसा दान अनेक प्रकार का है, जिनमें अभय-दान सब से श्रेष्ठ है। क्योंकि अभय-दान, उन मरते हुये प्राणियों के प्राण का दान करता है, कि जो प्राणी मरना नहीं चाहते हैं, किन्तु जीवित रहने की इच्छा रखते हैं। मरते हुए प्राणी को एक ओर करोड़ों का धन दिया जाने लगे और दूसरी ओर जीवन दिया जाने लगे, तो वह धन न लेकर जीवन ही लेता है। प्रत्येक जीव को जीवन सब से अधिक प्रिय है। इसी से अभय-दान सब में श्रेष्ठ है।'

व्यवहार में भी अभयदान का अर्थ भयभीत को भय रहित बनाना ही किया जाता है। कोष आदि में भी अभयदान का अर्थ यही है। ऐसी दशा में तेरह-पन्थियों का यह कथन सर्वथा असंगत है, कि भयभीत को भययुक्त करना अभयदान नहीं है, किन्तु किसी को भय न देने का नाम अभय-दान है। थोड़ी बुद्धि वाला

व्यक्ति भी समझ सकता है कि न देने का नाम दान कैसे हो सकता है। देने का नाम ही दान है। 'अभय' देने को ही अभय-दान कहा जाता है; और अभय-दान का पात्र वही है, जो भय पा रहा है। सियाल यदि सिंह को नहीं मार सकता है, तो क्या इसका नाम अभयदान हो जावेगा ? यह तो एक व्यर्थ की बात है।

तेरह-पन्थियों की कुछ भ्रमोत्पादक युक्तियाँ और उनका समाधान

अब हम तेरह-पन्थियों की कुछ उन युक्तियों को बताते हैं, जिनको तेरह-पन्थी साधु लोगों के हृदय में से दया दान के प्रति श्रद्धा निकालने के लिए काम में लाया करते हैं। साथ ही उन कुयुक्तियों का कुछ जवाब भी देते हैं, जिसमें जनता उनकी कुयुक्तियों के फन्दे से बच सके।

(१)

धन देकर जीव बचाना, व्यभिचार कराकर जीव बचाने के समान ही पाप है। यह बताने के लिए तेरह-पन्थी एक ऐसी भीषण कुयुक्ति देते हैं, वह सुनिये। तेरह-पन्थी कहते हैं—

दोय वेश्या कसाई वाड़े गई, करता देखी हो जीवांरा संहार। दोनों जणियां मतो करी, मरता राख्या हो जीव दोय हजार॥ एक गहनो देई आपनो, तिन छुड़ाया

हो जीव एक हजार । दूजी छुड़ाया इण विधे, एक दोय सूं हो चोथो आस्रव सेवाड़ ॥ एकण सेवायो आस्रव पांचमो, तो उण दूजी हो चौथो आस्रव सेवाय । फेर पड्यो ईतो इण पाप मे, धर्म होसी हो ते तो सरीखो थाय ।

('अनुकम्पा' ढाल ७ वीं)

अर्थात्—दो वेश्याएँ कसाईखाने में गई। वहां बहुत जीवों का संहार होता देखकर दोनों ने सलाह की और दो हजार जीवों को मरने से बचाया । एक वेश्या ने तो अपने आभूषण देकर एक हजार जीव बचाये, और दूसरी वेश्या ने कसाई वाड़े के एक दो आदमी से चौथा आस्रव (अब्रह्मचर्य या व्यभिचार) सेवन कराकर एक हजार जीव बचाये । इनमें एक वेश्या ने गहने देकर पांचवें आस्रव (परिग्रह) का सेवन कराया और दूसरी ने चौथे आस्रव (व्यभिचार) का सेवन कराया । उन दोनों के पाप में क्या अन्तर हुआ ? यदि धर्म होगा, तो दोनों ही को बराबर होगा।

तेरह-पन्थियों के कहने का अभिप्राय यह है, कि धन देना, यह पांचवें आश्रव का सेवन कराना है, और व्यभिचार करना, चौथे आश्रव का सेवन कराना है । इसलिए यदि धन देकर जीव बचाना धर्म है, तो व्यभिचार कराकर जीव बचाना भी धर्म

है। क्योंकि धन देना भी आश्रव का सेवन कराना है, और व्यभिचार करना भी आश्रव का सेवन कराना है। दोनों ही आश्रव हैं, इसलिए चाहे धन देकर जीव छुड़ावे या व्यभिचार करके जीव छुड़ावे, दोनों एक ही समान हैं।

कैसी असभ्यता पूर्ण और मजेदार युक्ति है। इस कुयुक्ति के आगे तो लज्जा को भी लज्जित हो जाना पड़ता है। यह युक्ति किसी दूसरे की भी नहीं है, किन्तु तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के मूल संस्थापक श्रीमान् भीषणजी स्वामी की स्वयं की कही हुई है। इस निर्लज्जता पूर्ण युक्ति का खण्डन करने के लिए हम भी निर्लज्जता पूर्ण युक्ति का आश्रय लेने के लिए विवश है। क्योंकि ऐसा ही उदाहरण उपरोक्त युक्ति का बराबर प्रत्युत्तर समान है।

मान लीजिये कि तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के पूज्य जी का चातुर्मास किसी शहर में है। उनके दर्शनार्थ जाकर सेवा भक्ति करने का लाभ लेने की दो श्राविकाओं की इच्छा हुई। आखिर उन्होंने वहां में जाने का निश्चय किया। परन्तु खर्च दोनों के पास नहीं था। इसलिए उनमें से एक श्राविका ने तो अपना जेवर बेचकर उन रुपयों से टिकिट लिया। लेकिन दूसरी ने सोचा कि रुपया देना पांचवां आश्रव सेवन कराना है और व्यभिचार सेवन करना चौथा आश्रव सेवन कराना है। पाप तो दोनों ही है और बराबर है, बल्कि व्यभिचार से भी धन का नम्बर आगे है यानि

मानलो कि एक मकान के बाहर साधु ठहरे हुए हैं। चोर उस मकान में से धन चुराकर निकला। महात्मा ने धन चुराकर जाते हुए चोर को देख कर सोचा कि धन चोरी जाने से हम यहां ठहरे हुए हैं, इसलिए हमारी भी बदनामी होगी और जैन धर्म को भी लांछन लगेगा। ऐसा सोचकर महात्मा ने चोर को चोरी-त्याग का उपदेश दिया। परिणामतः धन वहीं छोड़कर, चोर ने महात्मा से चोरी का प्रत्याख्यान लिया और वहीं बैठ गया। सवेरे धन का स्वामी आया। उसने ताला टूटा देख महात्मा से पूछा। महात्मा ने कहा कि यह धन है, और यह चोर है। हमने इसको उपदेश दिया, इससे इसने यह तुम्हारा धन भी छोड़ दिया और सदा के लिए चोरी का त्याग कर दिया। यह सुनकर धन के स्वामी ने कहा कि आपने इस चोर को उपदेश देकर यह मेरा धन नहीं बचाया है किन्तु मेरे प्राण बचाये हैं। यदि मेरा यह धन चला जाता, तो मुझे इतना दुःख होता कि मैं मर ही जाता। मैं आपका बहुत उपकार मानता हूँ।

इस तरह चोर को चोरी त्यागने का उपदेश देने से चोर भी पाप से बचा और धन का स्वामी भी आर्त्त ध्यान करके मरने से बचा। धन को तो सुख दुःख होता नहीं है, जो सुख दुःख होता है, वह उसके स्वामी को। इसलिए चोर भी पाप से बच गया, तथा धन का स्वामी भी दुःख, मृत्यु एवं आर्त्त ध्यान के पाप से

बच गया। ऐसी दशा में चोर को चोरी त्यागने का जो उपदेश दिया गया, उस उपदेश से चोर का भी हित हुआ, और धन के स्वामी का भी हित हुआ। दोनों ही व्यक्ति पाप से बचे। यह क्या बुरा हुआ ?

यही बात बकरे को मारने वाले और बकरे के सम्बन्ध में भी समझो। मारने वाले को न मारने के लिए जो उपदेश दिया गया, उस उपदेश से मारने वाला भी पाप से बचा और बकरे की भी जीवन-रक्षा हुई, वह आर्त्तध्यान के पाप से बचा। इसमें क्या बुराई हुई ?

तेरह-पन्थी लोग व्यभिचारी पुरुष और व्यभिचारिणी स्त्री का उदाहरण देते हैं। हम इस उदाहरण को भी अनुकूल रूप में रखते हैं। मानलो कि एक व्यभिचारी पुरुष अपनी कुल्टा प्रेयसी के साथ व्यभिचार करने के लिए जा रहा था। मार्ग में महात्मा मिले, जिनके उपदेश से उस पुरुष ने पर-स्त्री-गमन का त्याग कर दिया। फिर वह पुरुष उस व्यभिचारिणी स्त्री के पास गया। उसने व्यभिचारिणी स्त्री को महात्मा द्वारा दिया गया उपदेश भी सुनाया और उसने यह भी कहा, कि मैंने महात्मा से व्यभिचार का त्याग कर लिया है। यह सुनकर व्यभिचारिणी स्त्री के मन में व्यभिचार से घृणा हुई, वह भी व्यभिचार के दुष्फल से भय-भीत हुई। अतः उस व्यभिचारिणी स्त्री ने भी महात्मा के पास

आकर पर-पुरुष-सेवन का त्याग कर लिया और सदाचारिणी बन गई * । इतने ही में उस पुरुष की विवाहिता स्त्री ने सुना कि मेरे पति ने परदार-गमन का त्याग कर लिया है । यह सुनकर वह भी प्रसन्न होती हुई महात्मा के पास आई । उसने महात्मा से कहा, कि आपने मेरे पति को पर स्त्री का त्याग करा दिया, यह आपने बड़ी कृपा की । मेरे पति व्यभिचारी हो गये थे, और बहुत कहने सुनने पर भी वे नहीं मानते थे; इसलिए मैं भी व्यभिचारिणी हो जाती, परन्तु आपकी कृपा से मेरे पति सुमार्ग पर आगये, अतः मैं भी पर-पुरुष-गमन का त्याग करती हूँ ।

इस प्रकार एक व्यभिचारी पुरुष को उपदेश देने से उस पुरुष की पत्नि भी व्यभिचार में प्रवृत होने से बच गई, तथा व्यभिचारिणी स्त्री ने भी व्यभिचार त्याग दिया । यह क्या बुरा हुआ ?

मतलब यह कि जिस प्रकार चोर को उपदेश देने से, चोर और धन के स्वामी का हित हुआ, उसी प्रकार मारने वाले को उपदेश देने से, मारने वाले का और बकरे का हित हुआ; तथा उसी प्रकार व्यभिचारी को उपदेश देने से व्यभिचारी पुरुष,

---

* तेरह-पन्थियों में इस तरह की अनुकूल भावना तो होती ही नहीं है । उनकी भावना ऐसी कलुषित हो गई है, कि जिससे वे प्रतिकूल और पाप की ही कल्पना करते हैं ।

उसकी पत्नी तथा व्यभिचारिणी स्त्री तीनों का हित हुआ। इसमें पाप क्या हुआ ?

(३)

दया को हृदय से निकालने के लिए तेरह-पन्थी लोग एक यह युक्ति देते हैं कि—

'एक खड्डे में थोड़ा सा पानी है, जिसमें बहुत सी मछलियाँ भरी हुई हैं। एक प्यासी भैंस पानी पीने के लिए आई। एक आदमी जो वहां खड़ा है, और खड्डे में पानी थोड़ा तथा मछली मेंढक बहुत होने की बात जानता है, यदि भैंस को हांकता है, तो भैंस प्यास की मारी मरती है, और नहीं हांकता है, तो खड्डे में की मछलियां, भैंस के पैरों से मरती हैं। एक ओर दया करने पर दूसरी ओर हिंसा होती है। इसी से हम कहते हैं कि संसार में तो ऐसा चलता ही रहता है। अतएव अपने को न तो भैंस पर ही दया करनी चाहिए, न मेंढक मछली पर, किन्तु मौन रखना चाहिए।'

यह तेरह-पन्थियों की युक्ति है। इसका जवाब हम इस रूप में देते हैं, कि यदि उस आदमी ने छाछ या धोवण पिलाकर भैंस की प्यास भी मिटा दी और खड्डे में के मेंढक मछली को भी बचा लिया, तो यह तो ठीक हुआ मानोगे न ? इसने दोनों ही पर दया की, इसमें तो पाप नहीं हुआ ? किन्तु तेरह-पन्थी तो

है; और यह आत्म कल्याण भी जरा विचारने की चीज है; जो अन्य किसी भी चीज से मेल नहीं खाता। अगर पास की झोंपडी में ही एक अनाथ बालक रुग्णावस्था की वेदना से कराह रहा हो तो भी ये आत्म-कल्याणी साधु उसकी सेवा करने जाकर अपने आत्म-कल्याण को खण्डित नहीं कर सकते; क्योंकि उनके शास्त्र में रोगी की सेवा करना आत्म-कल्याण का रास्ता नहीं बताया है।

इस तरह की जड़ बुद्धि से जहां सारा जीवन-व्यापार चल रहा है, वहां किस साधुता की परिक्षा करूं ? यह कहे जाने पर कि 'मीलों के वस्त्र में ज्यादा हिंसा होती है, इसलिए आपको खादी ही काम में लानी चाहिये।' तब यह जवाब मिला कि 'हमारे लिए तो दोनों (वस्त्र) हिंसा से मुक्त हैं क्योंकि वे हमारे लिए तैयार नहीं किये गये हैं' तो उनकी बुद्धि पर तरस आये बिना नहीं रह सका। ऐसे ही लोगों के लिए और इसी तरह का तर्क किये जाने पर रूस के महान् विचारक टालसटाय ने लिखा होगा। कि "मनुष्य कहीं भी और किसी रूप में रहता हो; पर यह निश्चित है कि उसके सिर पर जो मकान की छत है, वह स्वयं नहीं बनी, चूल्हे में जलने वाली लकड़ियां भी अपने आप वहां नहीं पहुंच गई, न पानी बिना लाए स्वयमेव आगया और पकी हुई रोटियां भी आसमान से नहीं बरसीं। उनका खाना,

कपड़ा और पैरों के जूते ये सब उनके लिए बनाए गये हैं, और इनके बनाने वाले पिछली पीढ़ियों में रहने वाले वे लोग नहीं थे, जो अब सब मर-खप गये हैं। ये सब काम आजकल विद्यमान रहने वाले वे ही लोग कर रहे हैं, जो अपनी जरूरतें पूरी करने नहीं पाते और दुनिया में दूसरों के लिए मेहनत करते घुल घुल कर मर जाते हैं।"

खेती करने में और हर प्रकार की प्रवृत्ति में ये साधु पाप बताया करते हैं और पाप से मुक्त होने का उपदेश दिया करते हैं, पर जब उनसे सीधा प्रश्न किया जाता है कि 'अगर सभी आपका उपदेश मान लें और पाप समझ कर हर प्रकार की उत्पादक प्रवृत्ति छोड़ दें तो हमारा और आपका जीवन कैसे चलेगा और यह आत्म कल्याण कैसे निभेगा!' तो ऐसे प्रश्नों से वे अपना कोई रास्ता नहीं समझते और टालस्टाय के ही शब्दों में "मूल प्रश्न से बिल्कुल असम्बद्ध प्रश्नों की पाण्डित्य पूर्ण चर्चा करने लग जाते हैं।' संसार के नाम पर सभी तरह की प्रवृत्तियाँ आदमी करते हैं और कर सकते हैं, साधुओं को उनसे कोई मतलब नहीं; पर मैं पूछता हूं, प्रवृत्तियों से चाहे ये मुक्त हों, पर प्रवृत्तियों के परिणाम से कहां मुक्त हैं! खेती करने को ये पाप बताते हैं, पर अन्न ये खाते हैं; कुआँ खुदाने को पाप कहते हैं, पर कुएं का पानी ये पीते हैं, कपड़ा बुनने और बुनवाने में ये पाप

सहन का चित्र खींचते हैं कि वह इनकी असली हालत को जाने बिना ही इनकी तारीफ करने लगता है। अपने त्याग की हरेक बात को इतनी बढ़ा कर आने वाले को ये कहते हैं कि उससे भोले व्यक्ति प्रवञ्चना में फँस जाते हैं। ये साधु अपने श्रावकों के सामाजिक और लौकिक कार्यों से अपने को बिल्कुल मुक्त बतलाते हैं। पर यह बिल्कुल झूँठ है क्योंकि दुनिया का कोई काम ऐसा बाकी नहीं रहा है, जिसका इन्होंने पाप और धर्म में बँटवारा न कर दिया हो। पाप और धर्म की सूचियों में सभी कार्यों का ये वर्गीकरण कर देते हैं और रात दिन यह उपदेश दिया करते हैं कि धर्म करने का और पाप नहीं करने का है, इनके धर्म का मानवता के साथ कोई समन्वय नहीं है, इसलिए मानव जाति की उन्नति के जितने कार्य हैं, वे सब पाप की सूची में रखे गये हैं। हमारे साधुओं ने सिखाया है कि जब तक उनकी तरह किसी ने संसार का त्याग कर पंच महाव्रत नहीं धारण किये हैं, तब तक उसकी सेवा करने या उसको दान देने में धर्म नहीं है, बल्कि कर्म-बन्धन स्वरूप पाप है। समाज के बालक बालिकाओं के लिए शिक्षालय या स्वास्थ्यालय खोलना भी हमारे साधुओं के उपदेशानुसार धर्म कार्यों की सूची में नहीं आता। इस तरह यह धर्म, समाज के लिए कुछ भी नहीं करता, बल्कि किये जाने को रोकता है, और फिर भी ऐसा आपने बहुत ठीक ठीक लिखा

है, समाज से अपने लिए नाना भांति की सेवा लेते रहने में कोई आपत्ति नहीं समझता। आप अगर १०–१५ दिन लगातार हमारे साधुओं की सेवा (!) का लाभ लें तो आपको पता लगेगा कि जहां पूज्यजी की सवारी पहुँच जाती है, वहां के समाज की इस सेवा के भार से क्या हालत हो जाती है। माघ महोत्सव और चातुर्मास के दिनों में गांव वालों की परेशानियां इतनी बढ़ जाती हैं, कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं।

सम्पादकजी ! मुझे सचमुच अपने समाज के उन हजारों स्त्री पुरुषों पर तरस आता है, जो विवेक की आंखें बन्द हो जाने के कारण इनके जाल में फँसे हुए हैं। थली के गाँवों की सार्वजनिक और सांस्कृतिक हालत का जो दिग्दर्शन आपने अपने लेख में कराया है, उसको पढ़कर क्या हमें शर्म नहीं आती ? हमारा मस्तक झुक जाता है, हमारा यौवन बलबला कर उठता है, पर क्या करें सम्पादकजी ! यह सब हमारे इन साधुओं की कृपा है। जहां ये विराजते हैं, वहां आस पास कोसों तक मानवता के [illegible] नष्ट हो जाते हैं क्योंकि इनके उपदेश ही ऐसे हैं। हम जानते हैं कि इनसे जैन धर्म कलंकित हो रहा है क्योंकि हमारी तरफ की जनता तो इन्हीं जैन मुनियों को साक्षात देखती है, और इस बात से प्रभावित भी होती है कि इनको मानने वाले सब सेठ लोग हैं, लाखों और करोड़ों रुपया कमाते हैं। ये साधु गुरु तो दरिद्र

है,' बहुत से लोगों ने यह हकीकत सुनी होगी। श्रीयुत चोपड़ाजी इस आक्षेप का परिहार करने को उत्सुक हैं, परन्तु हमें यह कहते हुए दिलगीरी (खेद) होता है कि वकील महाशय स्वयं ही आक्षेप का प्रतिकार करने के बदले समर्थन करते हों, ऐसा प्रतीत होता है।

वकील महोदय ने रजू किया हुआ, एक कल्पित प्रसंग यहां विचारते हैं, कि इनके स्वयं के शब्दों में ही भूत दया सम्बन्धी प्रश्न और उत्तर, दोनों तपासें—

× × × × ×

प्रश्न—एक अनाथ बालक जाता हो, उसके पेट में कोई नराधम छुरी भोंकदे तो दया धर्मी को उस समय क्या करना?

"उत्तर में वकील छोगमलजी चोपड़ा कहते हैं कि—जिनाज्ञा प्रमाणे चलने वाले साधु साध्वी ऐसे अवसर में मजकुर अनाथ बालक को बचा सकते नहीं, वे तो उपदेश देकर घातक को दुष्कृत्य से निवृत्त करें, अन्यथा जो यह देखना असह्य हो वे उस जगह को छोड़कर दूसरी जगह पर चले जाँय। उपदेश से हिंसक को समझा कर दुष्कृत्य से निवृत्त करना वीतराग प्ररूपित धर्म है किन्तु बल प्रयोग, लालच या शरमा-शरमी से खाजे, लाजे, बाजे करके बचाने में श्री जिनेश्वर का धर्म नहीं। अतः बल प्रयोग से किसी को कष्ट पहुँचा कर बचा लेना यह श्री जिनेश्वर कथित धर्म नहीं है।"

× × × × ×

उपदेश देने जितना अवकाश नहीं रहा हो, अथवा उपदेश से वह घातक समझे ऐसा न हो, किन्तु उस समय हिम्मत भरा हुआ हुंकार करने मात्र से जो दुष्ट मनुष्य के गात्र थरथरा जाते हों तो भी सिर्फ उपदेश ही सुनाना और यह दृश्य न देखा जाता हो तो वहाँ से चले जाना, भाग छूटना, इसमें दया, अहिंसा या जिन देव प्रकाशित सिद्धान्त की बात तो दूर रही, मनुष्य की मानवता ही कहाँ रही। और जो साधु साध्वी नहीं कर सकते यानि मरते प्राणि को बचाने की क्रिया, जो संसार त्यागी विरागी भी नहीं कर सके, वह श्रावक श्राविका से तो बने कैसे ! पामरता की इससे अधिक मर्यादा दूसरी क्या हो सके।

घातक का घातकीपन और निर्दोष बालक की हत्या यह शुभाशुभ कर्म का परिणाम है, ऐसा यह वकील भाई अपने को व्यवहार के विषय में भी जंचाना चाहते हैं, परन्तु यह तत्त्वज्ञान मूल भूमिका बगैर का होने से यहां टिक नहीं सकता, बँगाड़ बन जाता है।

जैन धर्म के उच्चतम सिद्धान्तों का यह दुरुपयोग नहीं तो अन्य क्या कहा जाय ! तेरापन्थ की जमात जो वृद्धि पावे यानि जगत भर में तेरापन्थ मान्यता प्रसृत हो जाय तो समाज की कैसी स्थिति हो !

[illegible]

तेरा-पन्थ के सिद्धान्त के सम्बन्ध में टीका करने के उद्देश्य से हमें यह नहीं करते । आज का युग धर्म प्रत्येक नागरिक के पास से निर्भयता की और समाज कुटुम्ब तथा राष्ट्र के लिये अधिक से अधिक बलिदान की मांगणी कर रहा है, ऐसे समय में तेरा-पन्थ के सिद्धान्त का प्रचार बिलकुल हास्यास्पद बने और जैन शासन तथा जैन संस्कृति की अवहेलना हो, ऐसा पूर्ण भय रहता है ।

टुंकी होय छे. पण आ हकीकतनो जेने ख्याल न होय तेओ आ साधु साध्वीओ ने स्थानकवासी सम्प्रदायनां साधु साध्वीओ ज माने तेमनो उपदेश पण ३२ सूत्रो उपर ज रचायेलो छ एम तेमनो दावो छे अने आचारमां पण तेओ देखीती रीते स्थानकवासी साधुनां आचार पाले छे. एटले कोई पण भ्रमणामां पडे एवुं छे. तो एक सवाल ऊभो थाय के तेमनो विरोध शा माटे करवामां आवे छे.

आपणा सम्प्रदायनां अग्रगण्य साधु मुनिराजो अने श्रावको जेमने तेरा-पन्थनो पुरतो अंगत अनुभव छे तेवाओए चेतवणी आपी छे के, तेरा-पन्थी मान्यताओ स्थानकवासी सम्प्रदायनी मान्यताओथी सदंतर विरोधी छे, एटलुंज नहिं पण जैन धर्मना सिद्धांतोथी विरोधी छे. अने तेरा-पन्थी साधुओनां बाह्य आचारथी आकर्षाइ आपणा भाईयो तेमनी मान्यताओ तरफ वळशे तो स्थानकवासी सम्प्रदायने अने जैन धर्म ने मोटी हानि थवानो सम्भव छे. एक भाइए मने लख्युं छे के आपणा केटलाक अनुभवी साधुजीओए तेरा-पन्थ विषे तेमने केटलीक वातो कही ते कमकमाटी उपजावे तेवी छे.

आ उपरथी मारी जिज्ञासा वधी, अने में तेरा-पन्थ सम्बन्धे कांइक जाणवा प्रयत्न कर्यो. आज अरसामां मने केटलाक तेरा-पन्थी श्रावकोनो परिचय थयो अने तेमनी साथे लंबाण [illegible]

जैनोना श्री सिद्धराज जी ढड्ढा जेओ कलकत्तानी ईन्डीयन मरचन्टस चेम्बरना मंत्री छे तथा तरुण जैन ना तन्त्री श्री भँवरमलजी सिंघी ने मळवानो मने प्रसंग मळ्यो. कलकत्ताना जैनोमां मोटो भाग तेरा-पन्थी मारवाडीओनो छे, तेमनी रहेणी करणी, विचारश्रेणी, स्थितिचुस्तता अने अहिंसा सम्बन्धेना खोटा ख्यालोनी विगतवार हकीकतो ए भाइयो पासेथी में सांभळी.

मारे तेरा-पन्थ विषे लखतां पहेलां तेथी पण विशेष माहीति मेळववी हती. एटले विशेष तपास करी तो जणायुं के पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज साहेबे 'सद्धर्म मण्डन' नामे एक ग्रन्थ लख्यो छे जेमां तेरा-पन्थना आचार्य जीतमलजीनुं लखेल एक पुस्तक "भ्रम विध्वंसन" नुं खण्डन करवामां आव्युं छे ते पुस्तक मेळवी जोइ गयो. तेमां शास्त्रनां संख्याबंध आधारो टांकी तेरा-पन्थी मान्यताओनुं सफल खण्डन कर्युं छे. मारवाडमां आ सम्बन्धे घणा वादविवाद थयो हतो अने थाय छे. श्री सद्धर्म मण्डननी प्रस्तावनामां तेरा-पन्थी मान्यताओ संबंधे केटलीक हकीकतो लखी छे जे आपणे मानी न शकीए तेवी छे. कोई पण सम्प्रदाय के व्यक्ति पछी ते जैन होय के अजैन एवी मान्यताओ धरावे ए मने तो अशक्य लागतुं हतुं तेना पण पुरावाओ आपवामां आवे छे.

आवी मान्यताओना केटलाक नमुनाओ, जे प्रस्तावनामां आप्या छे. ते आ रहीते—

(१) गायोथी भरेल वाड़ामां आग लागे अने कोई दयावान पुरु
ए वाडानुं द्वार खोली गायोनी रक्षा करे तेने, तेरा-पन्थी
एकान्त पाप कहे छे.

(२) त्रण मजला उपरथी कोई बालक पडतुं होय तो तेने उपरथी पकडी
बचावनार दयावान पुरुषने तेरा-पन्थी पाप करतो माने छे

(३) तेरा-पन्थी साधुओ सिवाय संसारमां सर्व प्राणीओ 'कुपात्र' छे

आ वस्तु वांचीने मने घणुं आश्चर्य थयुं. आवी मान्यताओ
धरावती तात्विक भूमिका समजवा हुं प्रयत्न करी रह्यो छुं. दुर्भाग्ये
तेरा-पन्थी साहित्य घणुं खरूं मारवाड़ीमां छे जे मने मळ्युं नथी
छतां जे थोडुं मल्युं छे ते तेमज तेमनां श्रावको तथा श्री सिद्धराजजी
ढड्ढा अने श्री सिंघी साथे मारे जे वातचीत थई ते उपरथी तेरा-पन्
साधुओनो उपदेश आवी कोईक मांयताओमां परिणामे एम मने लागे छे

× × × × ×

तेरा-पन्थी मान्यताओमां जैन धर्मनी साची भावनाओ होत
तो तेनुं प्रतिबिम्ब आपणे तेरा-पन्थी श्रावक समुदायमां जोई शकत
आपणने जे जोवा मळे छे ते तेथी तद्दन विपरीत छे.

भाई श्री सिद्धराजजी ढड्ढा अने श्री भँवरमलजी सिंघी
कलकत्ताना तेरा-पन्थी समाजनी स्थिति मने वर्णवी ते उपरथ
जणाय छे के तेओ अत्यन्त स्थिति चुस्त अने जड छे. सामाजिक
कोई पण कार्यमां भाग न ले. समाज सेवामां तेओ धर्म मानत

नथी. गरीबोने मदद करवी, भूख्याने अन्न आपवुं, निरक्षरने ज्ञान आपवुं, दर्दीने तबीबी राहत आपवी अथवा तेनी सारवार करवी, समाज उपयोगी कोई पण कार्य करवुं तेमां तेओ धर्म मानता नथी. तेमनां मत मुजब अने तेरा-पन्थी मान्यता मुजब आ बधा सांसारिक कार्यो छे. जेनी प्रवृत्तिमां कर्म बंधन छे. जेथी संसार वधे छे अने तेथी ते मोक्षमार्ग नथी. तेरा-पन्थीओ दानना विरोधी कहेवाय छे तेनुं आ कारण छे.

तेवा ज ख्यालो अने मान्यताओ जीवदया अने प्राणीरक्षा संबंध छे. कोई जीवनी रक्षा करवी अने तेने बचाववो तेमां तेओ धर्म मानता नथी. आ कथन कदाच आश्चर्यकारक लागशे तेथी जरा विस्तृत रीते समजावुं. दयाना बे प्रकार–स्वदया अने परदया अथवा जीवरक्षा. तेरा-पन्थी स्वदयामां माने छे एटले के पोते कोई जीवनी हिंसा करे नहि, करावे नहि अथवा करतां प्रते अनुमोदे नहि. पण परदया अथवा जीवरक्षामां नथी मानता. एटले के, कोई जीवने मरतां बचाववो तेमां धर्म नथी मानता. तेनो प्रत्यक्ष दाखलो बिलाडी उंदरने मारवा जती होय तो तेओ अटकावे नहि [illegible] मरी जाय [illegible] तो तेने बचाववामां धर्म माने नहि. आवी मान्यता माटे [illegible] दलीलोमां [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सांसारिक प्रवृत्ति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

प्रमाणे दरेयनुं थाय छे. तेमां बीजा कोइए वच्चे पडवानी जरूर नथी, वच्चे पडवामां धर्म नथी. कदाच पाप छे एम खुल्ली रीते न कहे.

आवा कारणे तेरापन्थीओ दयादानना विरोधी कहेवाय छे. आ सिद्धान्तो जैन धर्मना साचा सिद्धान्तो छे एवो तेमनो दावो छे. आवी मान्यताओ बराबर अमलमां मूकाय तो तेना केटला भयंकर अने विपरीत परिणामो आवे तेनी कल्पना करवी मुश्केल नथी. तेरा-पन्थी श्रावको साथे चर्चा करीए त्यारे तेमना मान्यताओना आवा परिणामो आवे ने तेमने कहीए त्यारे तेओ पण भडकी बेठे छे. आ परिणामो स्वीकारवानी तेमनी हिम्मत नथी. अन्ते "अमे न जाणीए, महाराजजी जाणे" एम कहीने ऊभा रहे छे. तेरा-पन्थी साधुओ साथे चर्चा करो त्यारे गोळ गोळ जवाब आपशे. तेमनामां पण तेमनी मान्यताओमां अचूक परिणामो प्रकटपणे स्वीकारवानी हिम्मत नथी. भूख्याने अन्न आपवामां धर्म नथी, मांदानी मावजत करवामां धर्म नथी, समाज सेवामां धर्म नथी, मरतां जीवने बचाववामां धर्म नथी; एवुं स्पष्टपणे तेओ कहेतां अचकाशे. तेरा-पन्थी साधुओना परिचयमां आवनार भाइओने मारी विनंती छे के तेमनी पासेथी स्पष्ट जवाब लेजो के उपरनी प्रवृत्तिओमां धर्म छे के पाप [illegible]

(जैन प्रकाश–ता. २६-७-४१ तथा ता. ९-८-४१)

विषय सूची

परिशिष्ट नं० १

परिशिष्ट नं० २

परिशिष्ट नं० ३

संसार में दुःख पाते हुए प्राणी को सुख प्राप्त करने के लिए धर्म ही प्रधान कारण है। अतः प्रत्येक प्राणी को धर्म का सेवन करना चाहिए।

साध्य धर्म सबका एक होने पर भी साधन में बहुत कुछ विभिन्नता दिखाई पड़ती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी २ रुचि के अनुसार धर्म के साधनों को स्वीकार कर उनका आराधन करता है। फिर भी विशिष्ट पुरुषों ने उनमें हिताहित और तथ्या-तथ्य का विचार करके जनता के कल्याणार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार मार्ग प्रदर्शन कराया, इस कारण जनता उन्हें अवतार के रूप में मानती व पूजती है।

विशिष्ट पुरुष परिस्थिती का विचार करके किसी एक तत्व को मुख्यता देकर उसका विशेष रूप से प्रतिपादन करते हैं और उसके दूसरे तत्व को गौण कर देते हैं। परन्तु परम्परा में उनके अनुयायी परिस्थिति एवं वातावरण बदल जाने पर भी उसी परिपाटी का अवलम्बन लेकर एकान्त रूप से उस तत्व का प्रतिपादन करते रहते हैं और दुसरा विरोध करने लग जाते हैं, इसलिए वह तत्व जनता का हित करने के बदले अहित का कारण बन जाता है।

जैन दर्शन मे भी यही नियम लागू होने से इसमें भी अनेक सम्प्रदायवाद चल पड़े हैं, जो एक दूसरे से भिन्न दिखाई पड़ते हैं। परन्तु तेरह-पन्थ सम्प्रदाय की मान्यता और सिद्धान्त तो निराले ही ढंग के हैं। ये किसी भी जैन अजैन के सिद्धान्त से मेल नहीं खाते है।

प्रत्येक सम्प्रदाय को अपने २ तत्वों का प्रचार करने की स्वतन्त्रता है किन्तु दूसरों पर आक्रमण न करते हुए अपना प्रचार कर सकते हैं। तब